आवेदन

हिन्दू समाज तथा संस्कृति आज संकटग्रस्त है। कई-एक दस्युदल भारतवर्ष की सनातन संस्कृति का उच्छेद करने के लिए कटिबद्ध हैं। भारतवर्ष में जिस समय पहिले अंग्रेजों का और फिर मुसलमानों का विदेशी शासन था उस समय इन दस्युदलों ने अपने पांव इस देश में जमाये थे। भारतवर्ष स्वाधीन हो गया। किन्तु ये दस्युदल अब भी आक्रमण-परायण हैं। इन्होंने हिन्दू समाज और संस्कृति के विरुद्ध एक संयुक्त मोरचा बना रखा है।

भारत-भारती ने विचारात्मक दृष्टि से हिन्दू समाज तथा संस्कृति का बचाव करने का व्रत लिया है। यह काम एक प्रकाशन-माला के माध्यम से किया जा रहा है। अभी तक जो भी प्रकाशन हमारी ओर से निकले हैं, उनका बहुत स्वागत हुआ है।

मानवबुद्धि सदा ही सत्य के प्रति आग्रहशील रही है। अतएव इस संघर्ष में सत्य ही हमारा एकमात्र अस्त्र है। एक ओर हिन्दू समाज तथा संस्कृति के सम्बन्ध में और दूसरी ओर दस्युदलों के सम्बन्ध में समूचे सत्य का उद्घाटन होना चाहिए।

हम प्रत्येक हिन्दू को आमन्त्रित करते हैं कि वह १) हमारे प्रकाशन अधिक से अधिक संख्या में खरीद कर जिज्ञासु जनों को पढ़ाए और २) हमारे सत्यशोधक-कोष में उदार हृदय से दान दे। हमारे लिये दान की कोई भो राशि न छोटी है, न बड़ी। चैक, बैंक ड्राफ्ट, पोस्टल आर्डर तथा मनीआर्डर, भारत-भारती, २/१८, अन्सारी रोड, नई दिल्ली-११०००२ के पते पर भेजें।

Library IIAS, Shimla
H 291.172 R 149 B
00104017

बौद्धधर्म तथा हिन्दूधर्म
का
परस्पर सम्बन्ध

लेखक
रामस्वरूप
अनुवादक
सीताराम गोयल

H
291.172 R 149 B

भारत-भारती
२/१८, अन्सारी रोड,
नई दिल्ली-११०००२

H
291·172
R 149 B

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

Indian Institute of Advanced Study
ACC. No. 104017
DATE 25-1-02
SHIMLA

Library IIAS, Shimla
H 291.172 R 149 B
00104017

सीताराम गोयल द्वारा भारत-भारती २/१८, अन्सारी रोड, नई दिल्ली-११०००२ के लिए प्रकाशित तथा सुमन प्रिंटर्स एण्ड स्टेश्नर्स १/६३४६-बी, वैस्ट रोहतास नगर, शाहदरा दिल्ली-११००३२ पर मुद्रित।

बौद्धधर्म तथा हिन्दूधर्म का परस्पर सम्बन्ध

बौद्धधर्म, एक सहस्र वर्ष के दीर्घ प्रवास के बाद, आज फिर अपनी जन्मभूमि, भारतवर्ष, में लौट रहा है, और इस देश में उसका समुचित स्वागत किया जा रहा है। यह कहा जा सकता है कि हिन्दूधर्म का साधारण अनुयायी स्वभावतः ही सहिष्णु होने के कारण बौद्धधर्म का स्वागत करा रहा है। और यह भी कहा जा सकता हैं कि हिन्दूधर्म का साधारण अनुयायी दीर्घ काल तक धर्म के विषय में उदासीन रहते रहने के कारण भी बौद्धधर्म का स्वागत कर रहा है। किन्तु हिन्दूधर्म के साधारण अनुयायी द्वारा बौद्धधर्म के स्वागत का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि भगवान बुद्ध हिन्दूधर्म की अध्यात्म-चेतना के अभिन्न अंग हैं।

भगवान बुद्ध का जन्म हिन्दूकुल में हुआ था। चाहे हम बौद्धधर्म के उदय, उत्थान तथा पराकाष्ठा को दृष्टिगोचर करें, चाहे बौद्धधर्म के शिल्प, स्थापत्य, अथवा उसकी मूर्तिकला, भाषा, श्रद्धा, मनीषा, शब्दावलि, नामानुक्रमणिका विनय-प्रणाली तथा अध्यात्म-साधना को लक्ष्य करें, हिन्दुत्व की भावना उसके उदय तथा उत्कर्ष में सर्वत्र व्याप्त है। बौद्धधर्म भले ही दीर्घकाल तक सुदूर विदेशों में वास करता रहा हो, किन्तु उसकी अध्यात्म-साधना की अभिव्यक्ति तथा उसका उर्ध्वस्थ अध्यात्म-साक्षात्कार अभी भी हिन्दुत्व का परिचय देता है।

हिन्दूधर्म का सर्वस्व बौद्धधर्म में परिभुक्त नहीं है। किन्तु बौद्धधर्म का सर्वस्व अवश्य ही उस तन्त्र के अन्तर्गत है जिसका तात्त्विक बोध हिन्दूधर्म के नाम से होता है।

यद्यपि हिन्दूधर्म का कोई भी साधारण अनुयायी, जिसकी चेतना में एक सुदूर अतीत की स्मृति संचित है, इस प्रकार के मनोभाव का परिचय देता है,

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

Indian Institute of A... Study
ACC. NO. 104017
DATE 25-1-02
SHIMLA

Library IIAS, Shimla
H 291.172 R 149 B
00104017

सीताराम गोयल द्वारा भारत-भारती २/१८, अन्सारी रोड, नई दिल्ली-११०००२ के लिए प्रकाशित तथा सुमन प्रिंटर्स एण्ड स्टेशनर्स १/६३४६-बी, वैस्ट रोहतास नगर, शाहदरा दिल्ली-११००३२ पर मुद्रित।

बौद्धधर्म तथा हिन्दूधर्म का परस्पर सम्बन्ध

बौद्धधर्म, एक सहस्र वर्ष के दीर्घ प्रवास के बाद, आज फिर अपनी जन्मभूमि, भारतवर्ष, में लौट रहा है, और इस देश में उसका समुचित स्वागत किया जा रहा है। यह कहा जा सकता है कि हिन्दूधर्म का साधारण अनुयायी स्वभावतः ही सहिष्णु होने के कारण बौद्धधर्म का स्वागत करा रहा है। और यह भी कहा जा सकता हैं कि हिन्दूधर्म का साधारण अनुयायी दीर्घ काल तक धर्म के विषय में उदासीन रहते रहने के कारण भी बौद्धधर्म का स्वागत कर रहा है। किन्तु हिन्दूधर्म के साधारण अनुयायी द्वारा बौद्धधर्म के स्वागत का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि भगवान बुद्ध हिन्दूधर्म की अध्यात्म-चेतना के अभिन्न अंग हैं।

भगवान बुद्ध का जन्म हिन्दूकुल में हुआ था। चाहे हम बौद्धधर्म के उदय, उत्थान तथा पराकाष्ठा को दृष्टिगोचर करें, चाहे बौद्धधर्म के शिल्प, स्थापत्य, अथवा उसकी मूर्तिकला, भाषा, श्रद्धा, मनीषा, शब्दावलि, नामानुक्रमणिका विनय-प्रणाली तथा अध्यात्म-साधना को लक्ष्य करें, हिन्दुत्व की भावना उसके उदय तथा उत्कर्ष में सर्वत्र व्याप्त है। बौद्धधर्म भले ही दीर्घकाल तक सुदूर विदेशों में वास करता रहा हो, किन्तु उसकी अध्यात्म-साधना की अभिव्यक्ति तथा उसका उर्ध्वस्थ अध्यात्म-साक्षात्कार अभी भी हिन्दुत्व का परिचय देता है।

हिन्दूधर्म का सर्वस्व बौद्धधर्म में परिभुक्त नहीं है। किन्तु बौद्धधर्म का सर्वस्व अवश्य ही उस तन्त्र के अन्तर्गत है जिसका तात्त्विक बोध हिन्दूधर्म के नाम से होता है।

यद्यपि हिन्दूधर्म का कोई भी साधारण अनुयायी, जिसकी चेतना में एक सुदूर अतीत की स्मृति संचित है, इस प्रकार के मनोभाव का परिचय देता है,

तो भी कतिपय वितण्डावादी विद्वान एक सर्वथा विपरीत निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं। इनकी शास्त्रीय गवेषणा का मूलभूत सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक दृष्टि तथा सम्प्रदाय को स्वतःसम्पूर्ण मान कर ही उसकी व्याख्या होनी चाहिए। अतएव ये विद्वान किसी भी धर्म-सम्प्रदाय की व्याख्या करते समय उसको उसकी प्राणवान् परम्परा से पृथक कर लेते हैं। इनमें से कई तो अपने-आपको इसीलिए बौद्धधर्म के पण्डित मान बैठे हैं कि उन्होंने बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया है। पण्डितों का यह परिवार आज प्रचार कर रहा है कि बौद्धधर्म ने हिन्दूधर्म के विरुद्ध विद्रोह किया था। इनके मतानुसार वह विद्रोह केवल तत्कालीन जाति-व्यवस्था अथवा यज्ञप्रधान उपासना-पद्धति के विरुद्ध ही नहीं था, अपितु उस युग की समस्त अध्यात्म-साधना तथा तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध भी था।

वस्तुतः कुछ जडवादी विद्वान तथा लोकायत राजनीति के समर्थक समवाय बौद्धधर्म का स्वागत बढ़-बढ़ कर इसीलिए कर रहे हैं कि इनके मतानुसार बौद्ध-धर्म आत्मा और परमात्मा के विषय में हिन्दूधर्म के "अतीन्द्रिय अन्धविश्वासों" का युगानुकूल प्रतिरोध करने में सफल हो सकेगा। इनका विश्वास है कि "हिन्दू-धर्म के अन्धविश्वास देश को दुर्बल बना रहे हैं।" इनकी दृष्टि में भगवान बुद्ध नव्य-न्याय के एक ऐसे प्रवीण पण्डित थे जो केवल प्रत्यक्ष तथा अनुमान का ही आश्रय लेते थे। वे स्वभावतः ही संशयात्मा थे। इसलिए उन्होंने अध्यात्म की सर्वसम्मत मान्यताओं के थोथेपन को तुरन्त ही देख लिया। किन्तु वे लोक-मत-भीरु भी थे। इसलिए उन्होंने अध्यात्म के विषय में अपने प्रकृत मत को प्रकाश रूप से प्रकट नहीं किया। अध्यात्म के प्रति एक कूट-मौन का आश्रय लेकर, उन्होंने जनता में एक बुद्धगम्य शील का प्रचार किया। इस शील का नाम उन्होंने शीलत्रय बतलाया। और इस प्रकार उन्होंने एक ही वार में अन्धविश्वास के व्यूह को भेद दिया।*

---

* यहां तक कि डा० राधाकृष्णन् भी, जो अध्यात्म-सम्बन्धी विचारों से अनभिज्ञ नहीं हैं, ऐसी बातें कहते रहते हैं कि जिनसे बौद्धधर्म की इस लोकायत व्याख्या को ही समर्थन मिलता है। भगवान बुद्ध के विषय में उनका कथन है कि "वे बुद्धिवादी हैं क्योंकि वे किसी भी अपौरु-षेय श्रुति का आश्रय लिए बिना वस्तुसत्य अथवा अनुभूति का अन्वेषण करना चाहते थे। उनकी आकांक्षा थी कि वे तर्क के बल पर ही लोगों का मार्गदर्शन करें...वे एक विशुद्ध बुद्धि-वादी धर्म-सम्पप्रदाय की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। वे एक ऐसे कूटतार्किक हैं जो अपने प्रतिपक्षी के साथ संवाद करके उसे मोक्षामार्ग की ओर ले जाना चाहते हैं।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने भगवान बुद्ध को एक अर्वाचीन संशयवादी बनाकर प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं : 'किसी भी विषय में कोई निश्चित मत प्रकट करने से विरत रहना ही बुद्ध का सिद्धान्त था।"

इस प्रकार बौद्धधर्म को एक बुद्धिवादी और सामाजिक शील का प्रचार करने वाला सम्प्रदाय बनाकर प्रस्तुत किया जा रहा है। उस सम्प्रदाय में अध्यात्म जैसे "अवाञ्छनीय अन्धविश्वास" का कोई स्थान नहीं और शील को आत्मा अथवा परमात्मा के प्रपञ्च से मुक्त कर दिया गया है।

किन्तु सम्यक् विचार बौद्धधर्म की इन समस्त व्याख्याओं का प्रत्याख्यान करता है। यह सत्य है कि भगवान बुद्ध एक महान मनीषी थे जिनकी दृष्टि बाह्य रूपों को भेद कर तुरन्त ही अंतःसार पर आविष्ट हो जाती थी। किन्तु वे एक आधुनिक ढंग के बुद्धिवादी तो बिल्कुल नहीं थे। इसके विपरीत, वे उन कोरे बुद्धिवादी सिद्धान्तों के विषय में, जो प्रत्येक युग के वितण्डावादियों को प्रिय होते हैं, उत्कट जुगुप्सा ही प्रकट करते थे। उन्होंने बुद्धिवादियों के सिद्धान्त-सम्बंधी समस्त अध्यवसाय को "दृष्टि-गहन, दृष्टि-कान्तार, दृष्टि-विशूक दृष्टि-विस्पन्दित, दृष्टि-संयोजन" बतलाया था जो "दुःखमय, विघातमय, उपायास-मय, परिदाहमय है।"

भगवान बुद्ध ने सत्य का साक्षात्कार करने के लिए वर्गीकरण, समतुलन, निर्णयन, निष्कर्षण तथा प्रयोगीकरण इत्यादि प्रणालियों का आश्रय नहीं लिया। ये प्रणालियां ही बुद्धिवाद का सर्वस्व हैं। भगवान बुद्ध तो शीलशुद्धि, ध्यान, समाधि, समर्पण, अक्षुण्ण दृष्टाभाव और अविरत अभीप्सा की बात कहते थे। इन्ही साधनाओं के पथ पर आगे बढने से साधक अपने साधारण चित्त का अतिक्रमण करता है और परमसत्य का प्रकाश हठात् अथवा उत्तरोत्तर उदय होता है।

उस सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता जो बौद्धधर्म को केवल शील की एक संहिता बनाकर प्रस्तुत करता है। भगवान बुद्ध ने स्वयं इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान स्पष्ट शब्दों में किया है। उन्होंने ने आग्रह किया है कि शील के विषय में उनके शिक्षापद "मुख्य" नहीं वरन् "गौण" हैं। उन्होंने स्वयं प्रज्ञापित किया है कि "समाधि" तथा "प्रज्ञा" के विषय में दिए गए उनके उपदेश ही सारभूत हैं। उनके मत में जो लोग उनके शील-सम्बन्धी शिक्षापदों को लेकर उनकी सराहना करते थे वे "अज्ञ" और साधारण बुद्धि वाले अथवा "पृथग्जन" थे।*

---

* यहां हम बौद्धधर्म की उस तृतीय व्याख्या का उल्लेख नही कर रहे जो विषादवादी है। उस व्याख्या के अनुसार बौद्धमत का मर्म है "विवशता", "सूनापन", निस्सारता", "निरर्थकता" का बोध। मार्क्स जैसे मनीषियों में इस व्याख्या का परिचय प्राप्त होता है।

अतएव भगवान बुद्ध के तर्क तथा शील का एक पारमार्थिक और ऊर्ध्व-वस्थ आधार था। वह परमार्थ ही भगवान के शिक्षापदों का प्रकृत प्रकाश और सार है। उसी का उपदेश देने के कारण भगवान एक महामहिम जगद्गुरु और पथप्रदर्शक के नाते विख्यात हैं।

इसी प्रकार भगवान बुद्ध की करुणा केवल लौकिक अथवा मानवताप्रवण नहीं थी। वस्तुतः वह सम्यक् सम्बुद्ध की अगाध और अम्लान करुणा थी—उन पुद्गल प्राणियों के प्रति जो जन्म, व्याधि, जरा और मरण के भवचक्र में फंसे हुए हैं। जिस शान्ति की वे शिक्षा देते थे उसे व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों के बीच की गई सन्धि नहीं समझना चाहिए। उस शान्ति का उपदेश तो उपनिषद् में मिलता है—यतो वाचा निवर्तते। जिस आनन्द की बात वे कहते थे उसे शारीरिक क्षुधा-निवारण अथवा दैहिक सुखबोध अथवा मानसिक उल्लास नही समझना चाहिए। इसके विपरीत, वह आनन्द बारम्बर जन्म लेने के जंजाल से मुक्ति का आनन्द था।

इस संक्षिप्त विषयान्तर के बाद हम फिर उस प्रसंग की ओर लौटते हैं जिससे इस लेख का सूत्रपात हु ा था, अर्थात् बौद्धधर्म का हिन्दूधर्म के साथ क्या सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध की चर्चा कई कारणों से महत्वपूर्ण है। प्रथमतः यह चर्चा हमें उन गहन चिन्तनों तथा आदर्शों को समझने में सहायता देगी जो संसार के आधे भाग में आदर-प्राप्त हैं। द्वितीयतः हमारे लिए यह समझना सम्यक् और शिक्षाप्रद रहेगा कि परमार्थ के विषय में अपने साक्षात्कार को उन दो अध्यात्म-परम्पराओं ने किस प्रकार व्यक्त किया है जो संसार की सबसे प्राचीन, सर्वाधिक गुह्य, सर्वाधिक स्थायी, और सर्वाधिक सृजनशील परम्पराएं रही हैं। तृतीयतः यह चर्चा सभी साधकों के आत्मान्वेषण में सहायक होगी, उनका साधनापथ आलोकित करेगी, और उनकी अपनी अनुभूतियों को मुखरित करेगी। इन दो अध्यात्म-परम्पराओं को समझना अध्यात्म-विद्या के गूढ़तम प्रसंगों को समझना है, योगाभ्यास और अध्यात्म-साधना के सम्पूर्ण स्वरग्राम से परिचय प्राप्त करना है।

भगवान बुद्ध का मौन

हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म का परस्पर सम्बन्ध दो कारणों से आच्छन्न हो गया है और अन्यथा समझा गया है। इन्हीं दो कारणों से उस सम्बन्ध की अन्तरंगता का अल्पीकरण हुआ है।

एक कारण है भगवान बुद्ध का वह मौन जो उन्होंने ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा इत्यादि प्रश्नों के प्रसंग में धारण किया। उपनिषद् साहित्य में ये ही प्रश्न सर्वप्रमुख हैं। दूसरा कारण है भगवान बुद्ध की व्यक्तिगत व्याख्या एवं व्यञ्जना। उस प्रकार की व्यञ्जना उपनिषदों में अविद्यमान नहीं है। किन्तु वहां वह एक वृहत्तर समष्टि का एक पक्ष मात्र है, और इसलिए पलायन-प्रवृत्ति तथा दुःखवाद का वैसा एकांगी आभास नहीं उपजाती।

प्रथमतः हम भगवान बुद्ध के मौन की विवेचना करेंगे। आत्मा तथा परमात्मा के विषय में विवेचना न करने के दो कारण थे। उन्होंने उन समस्त प्रश्नों का उत्तर देना अस्वीकार कर दिया जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के आध्यात्मिक कल्याण के साथ क्रियात्मक रूप में सिद्ध नहीं होता था। अध्यात्म स्वभावतः ही क्रियापरक होता है। अध्यात्म कभी भी बुद्धिवादी सिद्धान्तों को लेकर व्यस्त नहीं होता।

भगवान बुद्ध के युग में तो यह मौन अत्यन्त आवश्यक भी था। बौद्ध साहित्य के अवलोकन से उस युग का जो परिचय प्राप्त होता है उससे यह स्पष्ट है कि देश में वितण्डावाद के अनेकानेक आत्मघातक सिद्धांत सर्वत्र व्याप्त थे और मत-मतान्तरों की इस विकट व्यूह-रचना में फंस कर मानव-बुद्धि सर्वथा विपथगामी बनने लगी थी। उस समय तत्त्वशास्त्र के बासठ सिद्धान्त परस्पर विवाद कर रहे थे—अठारह सिद्धान्त सृष्टि के विषय में, और चवालीस सिद्धान्त प्रलय के विषय में। आहार को लेकर तपस्या करने की बाईस प्रणालियां थी, वस्त्र को लेकर तेरह प्रणालियां। मरण के उपरान्त आत्मा की स्थिति को लेकर अनवरत वाद-विवाद होता रहता था।

इन वाद-विवाद करने वालों में अक्रियावादी थे, दैववादी थे, जडवादी थे, अकृतवादी थे, अनिश्चिततत्ववादी थे। और अन्य अनेक प्रकार के वादी-प्रतिवादी तथा वितण्डावादी थे। प्रत्येक नगर में विशाल कुतूहलशालाएं बनी हुई थीं जहां पर ये सिद्धान्ती लोग समवेत होकर आत्मा-परमात्मा तथा दिक्-काल के विषय में विशद विवेचना करते रहते थे। बुद्धि के इस घात-प्रतिघात में अध्यात्म-साधना का प्रसंग यदि विस्मृत हो जाता था तो यह विस्मय का विषय नहीं। बुद्धि की कतरव्योंत भगवदाराधना का स्थान भरती जा रही थी।

इस प्रकार का वातावरण किसी भी अध्यात्म-साधक के मन में सत्यशः विरक्ति उपजाता है। वह बुद्धि के बुलबुले उठाने की अपेक्षा सम्यक् साधना को

ही अधिक उपादेय मानता है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि भगवान बुद्ध ने इस प्रश्नों का उत्तर देना अस्वीकार कर दिया। प्रवीण पण्डित उनके पास आकर इन्हीं प्रश्नों को अनेक प्रकार से पूछते थे। किन्तु भगवान बुद्ध ने मौन रहकर ही इन समस्त प्रश्नों का प्रत्युत्तर दिया।

यह सत्य कि भगवान बुद्ध की साधना सर्वथा क्रियापरक थी, उस संवाद से स्पष्ट हो जाता है जो बुद्ध ने आयुष्मान् मालुंक्यपुत्त नाम के भिक्षु के साथ किया था। भिक्षु ने अपने-आप से कहा : "भगवान ने इन दृष्टियों को अव्याकृत, विस्थापित, प्रतिक्षिप्त कर दिया है—लोक शाश्वत है, लोक अशाश्वत है, लोक अन्तवान है, लोक अनन्त है, जीव और शरीर एक हैं, जीव अन्य है, शरीर अन्य है, मृत्यु के उपरान्त तथागत होते हैं, मृत्यु के उपरान्त तथागत नहीं होते, मृत्यु के उपरान्त तथागत होते भी है, नहीं भी होते, मृत्यु के उपरान्त तथागत न होते हैं, न नहीं होते। इनको भगवान मुझे नही बतलाते।" अतएव उसने निश्चय किया कि भगवान बुद्ध ने यदि यह सब उसको नहीं समझाया तो वह उनके पास ब्रह्मचर्य-वास नही करेगा।

भगवान बुद्ध ने उसके संशय का निवारण एक अद्वितीय उपमा द्वारा किया। उन्होंने कहा : "जैसे मालुंक्य-पुत्त ! कोई पुरुष गाढ़े लेप वाले विष से युक्त शल्य द्वारा विद्ध हो। उसके हित-मित्र, बन्धु-बान्धव शल्य-चिकित्सक भिषक् को ले आवें। वह यह कहे : 'मैं तब तक इस शल्य को नहीं निकालने दूंगा जब तक कि मुझे बेधने वाले उस पुरुष को न जान लूं कि वह क्षत्रिय है, ब्राह्मण है, वैश्य है, या शूद्र है।' वह यह कहे : 'मैं तब तक इस शल्य को नहीं निकालने दूंगा जब तक मुझे बेधने वाले उस पुरुष को न जान लूं कि वह अमुक नाम का, अमुक गोत्र का है।' वह यह कहे : 'मैं यह शल्य तब नहीं निकालने दूंगा जब तक मैं यह न जान लूं कि वह पुरुष दीर्घकाय है, लघुकाय है, या मध्यमकाय है।' वह यह कहे : 'मैं यह शल्य तब तक नहीं निकालने दूंगा जब तक मैं यह न जान लूं कि वह पुरुष कृष्ण, श्याम अथवा मत्स्य वर्ण का है।' वह यह कहे : 'मैं तब तक इस शल्य को नहीं निकालने दूंगा जब तक मैं यह न जान लूं कि वह पुरुष अमुक ग्राम अथवा निगम अथवा नगर का है।' वह यह कहे : 'मैं तब तक यह शल्य नहीं निकालने दूंगा जब तक मुझे बेधने वाले उस धनुष को न जान लूं कि वह चाप है या कोदण्ड।' वह यह कहे : 'मैं तब तक शल्य नहीं निकालने दूंगा जब तक मैं उस ज्या को न जान लूं कि वह मदार की, या संठे की या तांत की, या मरुवा की, या क्षीर-पर्णी की बनी

हुई है।' वह यह कहे : 'मैं तब तक यह शल्य नही निकालने दूंगा जब तक मैं उस शर को न जान लूं कि वह कच्छ का है या सर्पत का है।' वह यह कहे : 'मैं तब तक यह शल्य नहीं निकालने दूंगा जब तक मैं उस शर के पंख को न जान लूं कि वह श्येन का, या गिद्ध का, या काक का, या कुलल का, या मूयर का, या शिथिलहनु का है।' वह यह कहे : 'मैं इस शल्य को तब तक नहीं निकालने दूंगा जब तक मैं उस तीर की तांत को न जान लूं कि वह गो की, या महिष की, या गोरुव की, या वानर की है।' वह यह कहे ; 'मैं तब तक इस शल्य को नहीं निकालने दूंगा जब तक मैं उस शल्य को न जान लूं कि वह शल्य, या क्षुरप्र, या वेकण्ड, या नाराच, या वत्सदन्त या करवीर-पत्र है।' मालुंक्यपुत्त ! वे तो अज्ञात ही रह जाएंगे और वह पुरुष मर जाएगा।"

भगवान ने आगे कहा : "ऐसे ही, मालुंक्यपुत्त ! जो ऐसा कहे : 'मैं तब तक भगवान के पास ब्रह्मचर्यवास नहीं करूंगा जब तक तथागत मुझे यह नहीं बतलाते कि लोक शाश्वत है, अथवा लोक अशाश्वत है...अथवा मृत्यु के उपरान्त तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं, तो तथागत के बतलाने से पूर्व ही, मालुंक्यपुत्त ! वह पुरुष मर जाएगा।"

और भगवान ने यह निष्कर्ष निकाला : "मालुंक्यपुत्त ! 'लोक शाश्वत है' इस दृष्टि के होने पर ही क्या ब्रह्मचर्यवास होगा ? ऐसा भी नहीं है। 'लोक अशाश्वत है' इस दृष्टि के होने पर ही क्या ब्रह्मचर्य-वास होगा ? ऐसा भी नहीं है। मालुंक्यपुत ! चाहे 'लोक शाश्वत है', यह दृष्टि रहे, चाहे 'लोक अशाश्वत है' यह दृष्टि रहे, चाहे 'लोक अन्तवान है' यह दृष्टि रहे, चाहे 'लोक अनन्त है' यह दृष्टि रहे, चाहे 'जीव और शरीर एक हैं' यह दृष्टि रहे, चाहे 'जीव अन्य है, शरीर अन्य है' यह दृष्टि रहे, चाहे 'मृत्यु के उपरान्त तथागत होते हैं' यह दष्टि रहे, चाहे 'मृत्यु के उपरान्त तथागत होते भी है, नहीं भी होते' यह दृष्टि रहे, चाहे 'मृत्यु के उपरान्त तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं,' यह दृष्टि रहे, जन्म है ही, जरा है ही, मरण है ही, शोक, परिवेदना, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास है ही, जिनके इसी जन्म में विघात को मैं बतलाता हूं। मालुंक्यपुत्त ! ये सब प्रश्न सार्थक नहीं हैं, आदि-ब्रह्मचर्य-उपयोगी नहीं हैं। न ये निर्वेद, वैराग्य, निरोध, उपशम, अभिज्ञा, सम्बोध, निर्वाण के लिए हैं।"

परम साक्षात्कार की अनिर्वचनीयता

एक और भी कारण से भगवान बुद्ध ने तात्त्विक प्रश्नों की विवेचना करना अस्वीकार किया था। ये प्रश्न केवल निरर्थक ही नहीं थे, अपितु इन के उत्तर

किसी बुद्धिगम्य भाषा में देना भी असम्भव था। केनोपनिषद् में कहा गया है : "वहां न तो चक्षु-इन्द्रिय पहुंच सकती है, न वाक्-इन्द्रिय पहुंच सकती है, न मनस् ही। जिस प्रकार से इसको बतलाया जाए कि यह ऐसा है, वह प्रकार न तो हम स्वयं अपनी बुद्धि से जानते हैं, न दूसरों से सुनकर ही जानते हैं।" भगवान बुद्ध ने भी अपने-आप को ऐसी ही असमंयता की स्थिति में पाया। अध्यात्म-सम्बन्धी समस्त साहित्य के अनुसार जो बातें बुद्धि के परे हैं उनको बुद्धिगम्य सिद्धान्तों के रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। अतएव इन प्रश्नों का जो भी उत्तर दिया जाए, वही "अव्याकृत" है। भगवान बुद्ध बार-बार इस बात को दोहराते थे।

इस बात को समझाने के लिए भी भगवान बुद्ध ने एक अद्वितीय उपमा का आश्रय लिया। संयोगवश उस उपमा ने मुक्त आत्मा की वास्तविक स्थिति के विषय में उनके मत को भी सूचित कर दिया। अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त में वे वच्छ-गोत्त से पूछते हैं : "वच्छ ! यदि तेरे सामने आग जल रही हो, तो तू जानेगा—मेरे सन्मुख यह आग जल रही है। तू यह भी जानेगा—यह जो आग जल रही है वह तृण-काष्ठ के उपादान को लेकर जल रही है। यदि वच्छ ! तेरे सन्मुख यह आग बुझ जाए, तो तू जानेगा—यह आग मेरे सन्मुख बुझ गई। किन्तु वच्छ ! यह जो आग तेरे सन्मुख बुझ गई, वह आग किस दिशा को गई—पूर्व को, पश्चिम को, उत्तर को, या दक्षिण को—ऐसा पूछने पर, वच्छ ! तू क्या उत्तर देगा ?"

वच्छ ने उत्तर दिया : "अव्याकृत है, भो गौतम ! जो वह आग तृण-काष्ठ के उपादान को लेकर जली, उसके बुझ जाने पर, और अन्य (आहार) के न मिलने पर, आहार बिना 'बुझ गई' यही (उसका) नाम होता है।"

तब भगवान बुद्ध ने निष्कर्ष निकाला : "ऐसे ही, वच्छ ! तथागत को बतलाते समय जिस रूप से बतलाया जाता है, तथागत का वह रूप नष्ट हो गया, उच्छिन्न-मूल, शिर-कटे ताड़ जैसा, अभाव-प्राप्त, भविष्य में न-उत्पन्न-होने-योग्य हो गया। वच्छ ! तथागत रूप-संज्ञा से मुक्त, महासमुद्र के समान-गम्भीर, अपरिमेय, दुरवगाह्य हैं। 'उत्पन्न होते हैं' आव्याकृत है, 'उत्पन्न नहीं होते' अव्याकृत है, 'न उत्पन्न होते हैं, न-नहीं उत्पन्न होते हैं' अव्याकृत है।"

इसी बात के समान बात मुण्डकोपनिषद् के एक मन्त्र में कही गई है :

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार बहती हुई नदियां नाम-रूप गंवा कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूप से विहीन होकर परम से भी परे, दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता हैं।

वस्तुतः मुक्त आत्मा अथवा जीव की स्थिति के विषय में कहा ही क्या जा सकता है? क्या उसको व्यष्टिगत अथवा समष्टिमय अथवा परम-को-प्राप्त कहा जा सकता है? क्या उस स्थिति का वर्णन अथवा आकलन सम्भव है? क्या हम उसको शब्दों के सहज अर्थ में अस्तित्व अथवा अनस्तित्व कह सकते हैं? वह स्थिति तो गम्भीर, अपरिमेय, दूरवगाह्य है।

वेदान्त का उत्तर इससे भिन्न नहीं है। यह सत्य है कि वेदान्त की भाषा अधिक सकारात्मक है। किन्तु उस भाषा में व्यक्त उत्तर तो इससे असदृश नहीं दिखता। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार परमतत्त्व अदृष्ट, अग्राह्य अचिन्त्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य हैं।

आत्मा अथवा जीव जब तक पुद्गल पदार्थ में बद्ध रहता है, तब तक "वह" जो कुछ जानता है (अथवा जो कुछ जान पड़ता है) और जिसको "वह" आत्मभूत मानता है, वह सब परिवर्तनशील है, प्रवाहमान है, दुःख है, वंधन है, इन्द्रिरस्पर्शों का एक न एक समुदाय मात्र है। किन्तु जव भव-बन्धन छिन्न हो जाता है, जव नाम-रूप-मय संसार विलीन और विलुप्त हो जाता है, तब तथा-गत अथवा मुक्तात्मा उस स्थिति में प्रवेश करता है जो "महासमुद्र के समान गम्भीर, अपरिमेय, दुरवगाह्य" होती है, और जो, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, मुक्ति, शान्ति, आनन्द तथा चैतन्य की सम्पदा से युक्त होती है।

बुद्ध द्वारा निर्वाण की अनुभूति का स्वरूप

किसी भी समस्या के समाधान की दो प्रणालियां होती हैं—क्रियात्मक तथा सिद्धान्तात्मक; मनोवैज्ञानिक तथा तात्त्विक। उदाहरणार्थ, सांख्यदर्शन सिद्धान्तों

तथा तत्त्वों की विवेचना करता है, और योगदर्शन उन सिद्धान्तों को स्वीकार करके क्रिया तथा साधना की चर्चा करता है। इसी प्रकार वेदान्त सिद्धान्तों की तथा परमतत्त्व के स्वरूप की विवेचना करता हैं, और बौद्धधर्म उस साधना, शील तथा समाधिमार्ग की जिसके द्वारा इन्द्रियातीत साक्षात्कार सम्भव होता है। उस साक्षात्कार का विवरण प्रस्तुत करना ही भगवान बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया।

यह सत्य है कि भगवान बुद्ध प्रज्ञा तथा चार आर्यसत्यों की व्याख्या करते हैं। किन्तु वह व्याख्या भी प्रमुखतः साधना की दृष्टि से ही प्रस्तुत की गई है—इसलिए कि साधक का चित्त व्याख्या पर निविष्ट होकर वैराग्य को प्राप्त हो और वह नाम-रूप के संसार से विमुख हो जाए। उस व्याख्या का पारमार्थिक और तात्त्विक अर्थ तो साधना की समापना पर ही विदित हो पाता है। और जिस स्थिति में वह अर्थ विदित हो जाता है उसी को बुद्धत्व, सम्बोधि, निर्वाण इत्यादि की संज्ञा दी जाती है। इस परमोलपब्धि की विवेचना करना भगवान बुद्ध ने अस्वीकार कर दिया।

किन्तु भगवान बुद्ध द्वारा मौन धारण कर लेने की अवस्था में भी क्या हम उनके आशय का आकलन कर सकते हैं? आकलन से हमारा अभिप्राय यह नहीं कि हम उस सत्य का साक्षात्कार उसी प्रकार कर लें जिस प्रकार कि भगवान बुद्ध ने किया था। बुद्धि के लिए तो वह सत्य सर्वथा अगम्य है। आकलन से हमारा आशय यही है कि क्या हम भगवान बुद्ध को अध्यात्म-साधना की परम्परा में यथास्थान प्रतिष्ठित कर सकते हैं? अर्थात, क्या भगवान बुद्ध एक अकारण अकस्मात् थे—इस अर्थ में कि उनको जो साक्षात्कार हुआ वह उनके पूर्व किसी अन्य को नहीं हुआ था और उनके अनन्तर भी, उनके कतिपय प्रवीण शिष्यों के अतिरिक्त, किसी को नहीं हुआ? अथवा वे अध्यात्म-साधना की एक ऐसी प्रमाण परम्परा के प्रमुख एवं प्रतापवान प्रतिनिधि थे जो कि उपनिषद्-ग्रन्थों में पूर्ण प्रकारेण विकसित हुई है तथा जो प्रत्येक युग में, प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय की श्रुति द्वारा प्रतिपादित की गई है? संक्षेप में, क्या वे अध्यात्म-साधना की उस परम्परा में प्रतिष्ठित थे जो, कुछ गौण प्रसंगों को छोड़ कर, सनातन एवं सार्वजनीन है, अथवा वे मानवजाति की अध्यात्मा-परम्परा में एक अकारण अकस्मात् एवं शुद्ध संयोगमात्र थे?

इस प्रकार प्रस्तुत किए जाने पर प्रश्न का उत्तर देना दुःसाध्य नहीं रह जाता। भगवान बुद्ध की अध्यात्म-अनुभूति एक अकारण अकस्मात् नहीं

थी। वह अनुभूति अप्रत्याशित एवं व्यक्तिगत भी नहीं थी। इसके विपरीत, वह अनुभूति सर्वथा प्रत्याशित एवं सार्वजनीन थी। और यह मान लेने के लिए कि उनकी अध्यात्म-अनुभूति पूर्णरूपेण वेदान्त की परम्परा के अन्तर्गत थी, हमारे पास अनेक प्रमाण हैं। भगवान बुद्ध के शिक्षापदों पर मनन करने से तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य हो जाता है। भगवान बुद्ध ने स्वयं भी इससे अधिक आग्रह नहीं किया। उन्होंने केवल यही आग्रह किया था कि उन्होंने वह "पुरातन मार्ग पा लिया है, जिस पर पूर्व काल के सम्यक् सम्बुद्ध चले थे।"

वेदान्त के अनुरूप ही बौद्धधर्म में भी परम अनुभूति होने से पूर्व अहंकार का अतिक्रमण विधेय है। साधक को शून्य के समान प्रतीत होने वाले तत्त्व की सम्पूर्णता का बोध हो, उसके पूर्व सम्पूर्ण के समान प्रतीत होने वाले संसार की शून्यता का बोध हो जाना चाहिए। कठोपनिषद् के अनुसार "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा", अर्थात् वह परब्रह्म न तो वाणी से, न मन से और न नेत्रों से ही प्राप्त किया जा सकता है। तृष्णा का क्षय हो जाना चाहिए। बुद्धि समस्त तर्क-वितर्क, संकल्प-विकल्प तथा चाञ्चल्य से मुक्त हो जानी चाहिए। "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह, बुद्धिश्च न विचेष्टति", अर्थात् जब मन सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियां भलीभांति स्थिर हो जाती हैं, और बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती, "यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः", अर्थात जब हृदय की सब ग्रन्थियां भलीभांति खुल जाती हैं, तब अध्यात्म-ज्ञान तथा विमुक्ति के उदय का आरम्भ होता है।

भगवान बुद्ध उपनिषद् के उपरोक्त तत्त्वबोध का अनुमोदन करते हैं। वे कहते हैं: "वच्छ! तथागत का दृष्टिगत दोष दूर हो गया है। वच्छ! तथागत का यह दृष्ट है—रूप ऐसा है, रूप का समुदय ऐसा है, रूप का निरोध ऐसा है; वेदना ऐसी है, वेदना का समुदय ऐसा है, वेदना का निरोध ऐसा है; संज्ञा ऐसी है, संज्ञा का समुदय ऐसा है, संज्ञा का निरोध ऐसा है; संस्कार ऐसा है, संस्कार का समुदय ऐसा है, संस्कार का निरोध ऐसा है; विज्ञान ऐसा है, विज्ञान का समुदय ऐसा है, विज्ञान निरोध ऐसा है। यह कहता हूं—सारी मान्यताओं, सारे मन्यनों, सारे अहंकार-ममंकार-मान (आदि) चित्तदोषों के क्षय, विराग, निरोध, त्याग और अनुत्पत्ति से विमुक्त होता है।" मन तथा बुद्धि के उस अहंकार का, जिसके परिणामस्वरूप पुद्गल पुरुष शाश्वत तथा सनातन प्रतीत होता है, सर्वथा उपशम होना उपादेय है।

व्यावहारिक सत्ता के प्रत्याख्यान द्वारा ही नही, अपितु पारमार्थिक तत्त्व के प्रतिपादन द्वारा भी भगवान बुद्ध उपनिषदों का ही अनुसरण करते हैं। जिस शून्यवादी व्याख्या के लिए बौद्धधर्म आज विख्यात है वह नागार्जुन इत्यादि भगवान बुद्ध के परवर्ती अनुयायियों की ही कृति है। भगवान बुद्ध के अपने शिक्षापदों में तो शून्यवाद का समर्थन करने वाला कोई सिद्धान्त नहीं मिलता।* सम्वोधि प्राप्त करने के उपरान्त भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा था: "मैंने अमृत, अनुत्तर योगक्षेम निर्वाण को पा लिया।" उन्होंने निर्वाण की स्थिति उसको कहा था "जिसमें न जन्म रहता हैं, न जरा, न व्याधि, न मरण, न शोक, न संक्लेश।" उदान (सुत्तपिटक) में इस स्थिति को "अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत" कहा गया है।

यह तो प्रायः-प्रायः वेदान्त की ही भाषा है। ईशोपनिषद् में तत् को अविनाशी, अमर, अपापविद्ध, अजन्मा, स्वयम्भू और परिभू कहा गया है; मुण्डकोपनिषद में दिव्य, अमूर्त तथा शुभ्र, और श्वेताश्वतरोपनिषद् में अकाल, अमल तथा महद्यशस्। उस स्थिति में जिसको भगवान बुद्ध निर्वाण कहते हैं और जिसको वेदान्त ब्रह्मस्थिति बतलाता है, क्षय तथा वृद्धि का पूर्ण अवसान हो जाता है। वह स्थिति माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार "प्रपञ्चोपशम" कहलाती है, अर्थात उसमें प्रपञ्च का पूर्ण शमन हो जाता है। वह स्थिति "शाश्वतीसमा" अर्थात सर्वदा एकरस रहने वाली और "गम्भीर, अपरिमेय तथा दुरवगाह्य" है।

सम्बोधि की अध्यात्म-अनुभूति का जो मनोहर वर्णन भगवान बुद्ध द्वारा दिया गया है वह परमतत्त्व के स्वरूप के विषय में, उपनिषद् के शिक्षापदों का ही अनुमोदन एवं समर्थन करता है। "उस समय भगवान बुद्ध उरुवेला में नेरञ्जरा नदी के तीर पर वोधिवृक्ष के नीचे प्रथम अभिसम्वोधि को प्राप्त हुए। भगवान एक सप्ताह तक विमुक्ति का आनन्द लेते हुए एक आसन से बोधिवृक्ष के नीचे बैठ रहे...तव सप्ताह व्यतीत होने पर भगवान उस समाधि से उठकर वोधिवृक्ष के नीचे से वहां गए जहां अजपाल नाम का न्यग्रोध वृक्ष था। वहां पहुंच कर वे अजपाल न्यग्रोध वृक्ष के नीचे एक सप्ताह तक विमुक्ति का आनन्द लेते हुए एक आसन से बैठे रहे।" और इस प्रकार प्रत्येक सप्ताह

* एडवर्ड कोन्ज़े बौद्धधर्म के प्रकाण्ड पण्डित हैं। उनके मत में "शून्य" शब्द अभिधर्म सम्प्रदाय में भले ही ज्ञात रहा हो, पाली त्रिपिटक में उसका उल्लेख अल्प है। और पाली त्रिपिटक ही सबसे प्राचीन बौद्ध साहित्य है।

के उपरान्त एक वृक्ष के नीचे से दूसरे वृक्ष के नीचे जाकर वे लगातार उनंचास दिन तक अतीन्द्रिय शान्ति तथा आनन्द का सुख अनुभव करते रहे।

यहां पर निर्वाण की अनुभूति का वर्णन "शून्यता" अथवा "अभाव" की भाषा में व्यक्त नहीं किया गया, प्रत्युत उस अनुभूति को "समाधि, आनन्द, विमुक्ति तथा सम्बोधि" की संज्ञा दी गई है। यह वही भाषा है जिसका व्यवहार उपनिषदों में हुआ है—अनिर्वचनीय शान्ति, सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, विमुक्ति, प्रकाश। अध्यात्म की परम्परा में इस स्थिति को "शून्य" भी कहा गया है, तथा "पूर्ण" भी।

व्यावहारिक जगत् की निस्सारता

इस प्रकार सम्बोधि को प्राप्त होते समय गौतम ने केवल एक "गम्भीर, अपरिमेय, दुरवगाह्य" स्थिति में ही प्रवेश नहीं किया; उन्होंने केवल उस सत्य का ही साक्षात्कार नही किया जो कि उपनिषदों के वचनानुसार "शान्ति" तथा "आनन्द" तथा "मुक्ति" से पूर्ण और अनिर्वचनीय है; अपितु व्यावहारिक जगत् की वास्तविक सत्ता का साक्षात्कार भी किया। और उस साक्षात्कार का विवरण उस विवरण से विभिन्न नहीं है जो वेदान्त इस जगत् के विषय में देता है। भगवान बुद्ध ने एक क्षण में वह समस्त प्रपञ्च प्रत्यक्ष कर लिया जिसके द्वारा यह संसार, यह सृजन तथा संहार, और जीवन का यह चञ्चल प्रवाह सृष्ट होता है। उन्होंने उसको देख लिया जो अनन्त आवागमन का कारण है और जो अनवरत जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु के व्यूह का रचयिता है। उन्होंने कर्म के प्रचण्ड विधान को—प्रतीत्य-समुत्पाद के विधान को—देख लिया। "अविद्या के कारण संस्कार होता है, संस्कार के कारण विज्ञान होता है, विज्ञान के कारण नाम-रूप, नाम-रूप के कारण षडायतन, षडायतन के कारण स्पर्श, स्पर्श के कारण वेदना, वेदना के कारण तृष्णा, तृष्णा के कारण उपादान, उपादान के कारण भव, भव के कारण जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुख, दौर्मनस्य और उपायास।"

सिद्धान्त गहन है। जिन शब्दों द्वारा इस प्रक्रिया का वर्णन किया है उनके अर्थ साधना द्वारा ही अन्तर में अनुभूत किए जा सकते हैं।

उन्होंने इस प्रतीत्य-समुत्पाद का अनुलोम-प्रतिलोम मनन किया। उन्होंने देख लिया कि इस शृंखला में किस प्रकार समस्त दुःख--पुञ्ज का समुदय होता

है। उन्होंने यह भी देख लिया कि किस प्रकार इसकी अन्तिम कड़ी के पूर्ण क्षय और निरोध से यह समूची शृंखला ध्वस्त हो जाती है और दुःख-पुञ्ज का विनाश हो जाता है। और ज्यों ही उन्होंने व्यावहारिक जगत् के विधान को देखा, त्यों ही वे बन्धन से विमुक्त हो गए। तब उन्होंने यह उदान कहा : "गृहकार ! अब मैंने तुझको देख लिया। तू पुनरेण गृह-निर्माण नही कर सकेगा। तेरी सब कड़िया टूट चुकी हैं, गृह-शिखर बिखर गया है, चित्त निर्वाण को प्राप्त हो गया, तृष्णा का क्षय देख लिया।"

भगवान बुद्ध ने जो देखा वह उपनिषद् में विख्यात है—भगवान से विलग होकर यह मानव संसार, और पारमार्थिक सत्य से पृथक माना जाने पर यह व्यावहारिक जगत्, अकिंचित् है, अकिंचित् से भी न्यून है। इस प्रकार देखने पर यह जगत् विपर्यय है, माया है, अध्यास है, ताश के पत्तों का महल है, रेत का दुर्ग है, बुरादा मात्र है, भुस की ढेरी है, और प्रतिपल प्रचीयमान तथा दुर्गंधपूर्ण कूड़े का पुञ्ज है। जो लोग "तत्" को भूलकर विचरते हैं, वे मिथ्या-मोह में ग्रस्त हैं।

वह "गृहकार", जो जगत् की व्यूहरचना करता है, सर्वत्र सत्तावान् है। जब पारमार्थिक ज्ञान का उदय होता है तो उसकी सत्ता नितान्त निःसार दिखलाई देती है। किन्तु उस ज्ञान के उदय से पूर्व उसकी सत्ता भयावह रूप में विद्यमान रहती है। परमतत्त्व में उसकी कोई स्थिति नहीं। किन्तु तो भी अपनी बाह्य अभिव्यक्ति में वह सर्वथा सर्वव्यापी है। वह मनुष्य को चारों ओर से घेर लेता है। वह रोम-रोम में समा जाता है। उसकी तह पर तह जमती चली जाती है। वह स्थूल भी है, और सूक्ष्म भी है। उसका साम्राज्य विराट है। उसकी सत्ता सर्वतोमुखी है। वह मनुष्य के पापपूर्ण आचार तथा विचार में ही वास नहीं करता, अपितु मनुष्य की धर्मबुद्धि, परमार्थ-परायणता तथा सदाचार में भी प्रवेश पा लेता है।

अतएव यह आश्चर्य का विषय नहीं कि जिन सिद्धों ने उसकी सर्वतोमुखी सत्ता का साक्षात्कार किया है वे उसका वर्णन विविध नामों तथा उपमाओं के द्वारा करते हैं। वे उसको माया, अविद्या, तथा प्रकृति कहते हैं। वह नाम-रूप के समस्त शुभ तथा अशुभ पसारे का स्रष्टा है। अतएव माया अथवा अविद्या केवल दृष्टि-विपर्यय अथवा विवेक-विपर्यय ही नहीं है। वह तो कान्ट के उस "पूर्वाध्यास" के समान है जो व्यावहारिक जगत् के समस्त साक्षात्कारों तथा निष्कर्षों को जन्म देता है और जो हमारे इन्द्रियग्राह्य ज्ञान, हमारे कर्म तथा हमारी

कामनाओं में ओतप्रोत है।

व्यावहारिक सत्ता यद्यपि इतनी दुर्निवार्य तथा दुर्दान्त है, तथापि परमार्थ के प्रकाश का उदय होते ही वह या तो सर्वथा रूपान्तरित हो जाती है अथवा सूर्य सामने कुहासे की नांई विलीन हो जाती है। गहन-गम्भीर साधना में रत नर-नारियों के निकट व्यावहारिक जगत् निरानन्द और अतृप्तिकर ही रहा है। उन्होंने इस जगत् की अपूर्णता से मुक्ति पाने का प्रयास किया है। उन्होंने प्राणपण से प्रार्थना की है कि उन्हें परमपुरुष के पादपद्मों में शरण मिल जाए। इस प्रसंग पर कबीर, सूरदास, रामप्रसाद और मीरा के सुन्दर पद मिलते हैं। उन पदों में, बद्ध तथा भ्रान्त मानव की आत्मा का, मुक्त होने और दिव्यतत्त्व के साथ मिलने के लिए आर्तनाद ध्वनित होता है।

अहम्मन्यता का विनाश, सत्त्वशुद्धि, तृष्णा तथा मनस् द्वारा उद्भूत संसार का अतिक्रमण—ये कुछ ऐसी प्रक्रियाए हैं जो प्रत्येक महान संत के जीवन में घटित होती हैं। किन्तु साधारणतया ये प्रक्रियाएं परोक्ष रूप में सम्पन्न होती रहती हैं। भगवान बुद्ध को नाम-रूपमय संसार के समुदय तथा निरोध के विषय में जो ज्ञान इतनी स्पष्टता तथा अन्तरंगता के साथ उपलब्ध हुआ था, वह तो दुर्लभ ही रहता है। इसके अतिरिक्त, अनेक संतों के लिए उनके बाह्य चित्त तथा सत्त्व का, एक मात्रा में, शुद्ध एवं शान्त हो जाना ही ऊर्ध्वस्थ आत्मानुभूति की उपलब्धि के लिए पर्याप्त होता है। किन्तु भगवान बुद्ध के विषय में यह स्पष्ट है कि उनकी अनुभूति बाह्य सत्त्व की शुद्धि तथा शान्ति तथा अनासक्ति तक ही सीमित नहीं थी। उनमें तो उस समस्त संज्ञा का सम्पूर्ण निरोध तथा क्षय हुआ था जिससे कि नाम-रूपमय संसार का उद्भव होता रहता है। उनके संवाद (और उनकी मूर्तियां तथा चित्र भी) जिस शान्ति, आत्मबोध तथा अनासक्ति को व्यक्त करते हैं, उन सब पर परमार्थ की परिपूर्ण छाप अंकित है।

यह अनुभूति दुर्लभ है, किन्तु अनन्य नहीं। अध्यात्म-सम्बंधी समस्त साहित्य में सामान्यतः और वेदान्त के साहित्य में विशेषतः, इस अनुभूति का प्रचुर प्रमाण मिलता है। केवल नाम-रूप को उद्भूत करने वाली सत्ता का निरूपण इन समस्त श्रुतियों में एक ही प्रकार की भाषा तथा उपमा द्वारा व्यक्त नहीं हुआ। कुछ सिद्धों ने यह साक्षात्कार किया है कि अपने परमधाम में विराजमान भगवान अपनी अपरिमेय माया के बल पर, अपने वाक् अथवा अपनी चित्तशक्ति के सृजनात्मक सामर्थ्य के द्वारा, "महाशून्य" में से अनेक लोक, अनेक महासागर,

अनेक नक्षत्र तथा अजस्र अहोरात्र की रचना करते हैं। इस प्रसंग में प्लैतॉनवादी तथा नव्य-प्लैतॉनवादी सृष्टिक्रम अथवा आविर्भाव की धारणाओं से हम परिचित हैं। कुछ अन्य सिद्धों ने देखा है कि भगवान अपने-आपको अनन्त नाम-रूपों में व्यक्त कर रहे हैं और फिर भी उनका अपना स्वरूप अन्ततः इस समस्त सृष्टि-कर्म द्वारा अस्पृष्ट रहता है। श्रीमद् भगवद्गीता में हम भगवान को अर्जुन के सामने अपना विराट रूप प्रकट करते हुए देखते है : दिक् एवं काल, महान देवता, नर-लोकवीर, त्रिलोकी के समस्त चराचर, उनके, "दंष्ट्राकरालानि" तथा "भयान-कानि" मुखों में मे उद्भूत होकर उन्ही मुखों में "त्वरमाणाः" प्रवेश कर रहे हैं।

कुछ अन्य साक्षात्कार भी हैं जिनमें भागवत-तत्त्व अपेक्षाकृत न्यून है किन्तु जो, फिर भी, किसी प्रकार से कम पारमार्थिक नहीं हैं। कुछ सिद्धों ने देखा है कि व्यावहारिक जगत् के नाम-रूप, कर्मविधान के वशीभूत होकर, उदय तथा अस्त होते रहते हैं। सांख्य एक अन्य साक्षात्कार का वर्णन करता है जिसमें प्रकृति अपने गुणत्रय द्वारा प्रेरित होकर नाम-रूप के समस्त प्रपञ्च को प्रकट करती है और प्रलय की वेला में प्रकृति ही, साम्य अवस्था को प्राप्त होकर, अपने द्वारा सृष्ट उन समस्त नाम-रूपों तथा प्रवृत्तियों का अपने अन्तर में संहार कर लेती लेती है, और अव्यक्त हो जाती है।

भगवान बुद्ध का साक्षात्कार इस आशय में सांख्य के साक्षात्कार के समान है कि उसमें भी सृष्टि अथवा आविर्भाव की क्रिया यद्यपि किसी परमपुरुष की अपेक्षा नहीं करती तो भी एक ऐसे विधान के वशीभूत रहती है जो कि परमपुरुष से कम पारमार्थिक नहीं। भगवान बुद्ध की वाणी में प्रतीत्य-समुत्पाद के विभिन्न अवयवों की व्याख्या, जिस पर नाम-रूप का समस्त संसार अवलम्बित है, साधारण मानव-मानस की अनुभूतियों का आभास उपजाती है। किन्तु उनको उन अवयवों के प्रवर्तन का जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह पारमार्थिक था।

भगवान बुद्ध की क्रियापरक पद्धति के अनुरूप ही उनके द्वारा प्रतिपादित सृष्टिक्रम के अवयव भी पृथक से प्रतीत होते हैं—कर्म, स्पर्श, संज्ञा, तृष्णा, इत्यादि। इसके विपरीत सांख्य अपनी बात को सिद्धान्तों एवं तत्त्वों की भाषा में व्यक्त करता है—प्रकृति, महत्, अहंकार, मनस्, तन्मात्रा, इत्यादि।

! २ !

बौद्धधर्म द्वारा प्रतिपादित निर्वाण-पद तथा उपनिषद् द्वारा प्रतिपादित पर-ब्रह्म-साक्षात्कार, इन दोनों में जो सादृश्य अथवा तादात्म्य विद्यमान है, उसकी विवेचना हम कर चुके। अब हमको उन दोनों के प्रमुख तथा गौण विभेदों का स्पष्टीकरण भी करना चाहिए। कारण, जब-जब कोई पाठक हिन्दूधर्म तथा बौद्धधर्म के साहित्य का अध्ययन करता है तब-तब उसको यह बोध होता है कि दोनों साहित्य, कुछ अंशों में, दो विभिन्न प्रकार के वातावरण अथवा आवह की सृष्टि करते हैं।

परमतत्त्व के सभी साक्षात्कार बुद्धिगम्य भाषा के लिए अनिर्वचनीय तथा अकथनीय होते हैं। फिर भी यह संयोगमात्र नहीं है कि कोई साधक अपनी अनुभूति का बुद्धिगम्य वर्णन करते समय एक प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है, दूसरे प्रकार की भाषा का नहीं। वह वर्णन कितना ही अपूर्ण हो, अनुभूति के स्वरूप की सूचना तो दे ही देता है। भाषा का विभेद आध्यामिक अनुभूति के विभेद का भी द्योतक है। किन्तु साथ ही यह भी कहना होगा कि इस विभेद के कारण अध्यात्म-अनुभूति अथवा अध्यात्म-तत्त्व की अखण्डता में विक्षेप नहीं आता।

परमतत्त्व के साथ अनेक प्रकार के सम्पर्क सम्भव हैं। परमतत्त्व अनेक प्रकार के सम्पर्कों की सुविधा प्रदान करता है। इन सम्पर्कों का विवरण जब मानवीय भाषा में किया जाता है तो बाह्य दृष्टि से वे विवरण एक-दूसरे का बहिष्कार करते हुए भी प्रतीत होते हैं। किन्तु यह वैविध्य केवल इसी तथ्य का द्योतक है कि परमसत्य तत्त्वतः एक होकर भी अभिव्यक्ति तथा आत्मप्रकाश के नाते अनेक है।

बौद्धधर्म की "नीरसता" : उसकी "निराकरण" पद्धति

प्राचीन बौद्ध साहित्य का अध्ययन करते समय एक नीरस वातावरण का बोध होता है—केवलमात्र तथा श्रमसाध्य आत्मशुद्धि का बोध, सतत तत्परता का बोध। चैतन्य महाप्रभु, मीरा तथा आलवार सन्तों की वाणी में जिस सहजता, सम्पूर्णता, सरलता तथा आत्म-विभोरता का वातावरण मिलता है उसका बौद्ध साहित्य में अभाव है। बौद्धधर्म में यद्यपि परमसत्ता के साथ अन्तरंग सम्पर्क विद्यमान है, फिर भी परमात्मा अथवा आत्मा के उल्लेख का अभाव खटकता है। परमात्मा और आत्मा, अध्यात्म-अनुभूति के अविकल अंग हैं। शंकराचार्य के मायावादी अद्वैत में अथवा सांख्य की वितण्डावादी व्याख्याओं में भले ही इन तत्त्वों की चर्चा न मिलती हो, किन्तु उपनिषद्, गीता, महाभारत और इस

देश की सर्व-साधारण धर्मचेतना में ये तत्त्व ही प्रधान हैं।

परमसत्ता के प्रसंग में भारत में दो परम्पराएं रही हैं। एक परम्परा में तत् का निरूपण अपौरुषेय है—निर्गुण ब्र ह्मके रूप में, निराकार तथा निरपेक्ष अक्षर के रूप में। जब कोई साधक परमसत्ता की निम्नस्थ तथा मिश्रित अभिव्यक्तियों का निराकरण करने लगता है, तब वह तत् के उर्ध्वस्थ गुणों का साक्षात्कार करता है – शान्ति, सत्, चित्, आनन्द। परमसत्ता की अनुभूति उसे शान्ति अथवा मुक्ति और आनन्द तथा चित् के रूप में होतीं है। किन्तु इम अभिव्यक्तियों का निराकरण भी सम्भव है।

आनन्द, शान्ति, मुक्ति, चित् इत्यादि अभिव्यक्तयों का अतिक्रमण कर लेने पर साधक को केवल एक सारभूत सत्ता अथवा अखण्ड अस्तित्व की अनुभूति होने लगती है—ऐसे अस्तित्व की अनुभुति जो सतत वर्तमान है, किन्तु जिसका कोई "नाम अथवा धाम" नहीं। साधक सम्भवतः इस अस्तित्व का भी निराकरण कर सकता है। और तब उसको परमसत्ता का साक्षात्कार "शून्य" अथवा "असत्" के रूप में होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान बुद्ध, परमतत्त्व के विषय में, इस आत्यन्तिक निराकरण की परम्परा के अनुयायी थे। अतएव बौद्धधर्म में विहित निर्वाण के दो आशय हो गए :—

(१) व्यावहारिक सत्ता तथा मनस् में से समस्त रूपों तथा संज्ञाओं का आत्यन्तिक बहिष्कार और व्यावहारिक चेतना का आत्यन्तिक निरोध।

(२) परमतत्त्व के समस्त रूपों, गुणों तथा आयतनों का आत्यन्तिक निराकरण—यहां तक कि सत्, चित् तथा आनन्द का भी निराकरण।

निर्वाण के प्रथम प्रकार के कई नाम पड़ गए। किन्तु उन सबका आशय एक ही रहा—चित्त की समस्त वृत्तियों तथा आसक्तियों का निरोध, और अन्ततः चित्त के अस्तित्व-बोध का भी बहिष्कार। इस साधना को निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, राग का प्रहाण, द्वेष का प्रहाण, आसक्ति का प्रहाण इत्यादि कह कर पुकारा गया। इस अर्थ में निर्वाण बौद्धधर्म की साधना का आदि और अन्त बन गया। यह साधना बौद्ध शील से प्रारम्भ हुई और प्रज्ञा का उदय होने पर पूर्ण हो गई। प्रज्ञा का अर्थ है ऐहिक जीवन तथा ऐहिक पदार्थों के मिथ्यात्व तथा दुःखत्व का ज्ञान एवं उनसे मुक्ति पाने की पद्धति का ज्ञान।

इस उत्तरोत्तर निराकरण की साधना तब तक चलती है जब तक कि निर्वाण से न्यून सब कुछ का बहिष्कार हो जाता है। इस प्रक्रिया का

प्रमाण समाधि के विकास से संबंध रखने वाले बौद्ध विवरण में प्राप्त होता है। प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति तथा सुख विद्यमान हैं। द्वितीय ध्यान में वितर्क एवं विचार निरुद्ध हो जाते हैं। तृतीय ध्यान में प्रीति भी निरुद्ध हो जाती है और उपेक्षा का उदय होता है। चतुर्थ ध्यान में सुख भी निरुद्ध हो जाता है और केवल एकाग्रता तथा आत्यन्तिक उपेक्षा ही अवशिष्ट जाती है। तदनन्तर ज्यों-ज्यों समाधि गाढतर होती जाती है त्यों-त्यों निरोध तथा निराकरण की यह प्रक्रिया प्रवृद्ध होती जाती है और साधक को चार प्रकार के आनन्त्य अथवा बृहद् की अनुभूति होती है। "उसकी जो पहिले की रूप-संज्ञा थी वह निरुद्ध हो जाती है (और) आकाश-आनन्त्य-आयतन वाली सूक्ष्म-सत्य-संज्ञा उस समय होती है...उसकी वह पहिले की आकाश-आनन्त्य-आयतन वाली सूक्ष्म-सत्य-संज्ञा निरुद्ध हो जाती है (और) विज्ञान आनन्त्य-आयतन वाली सूक्ष्म-सत्य-संज्ञा उस समय होती है...उसकी वह पहले की विज्ञान-आनन्त्य-आयतन वाली सूक्ष्म-सत्य-संज्ञा निरुद्ध हो जाती है (और) आकिञ्चन्य-आयतन वाली सूक्ष्म-सत्य-संज्ञा उस समय होती है...उसकी वह पहिले की आकिञ्चन्य-आयतन वाली सूक्ष्म-सत्य-संज्ञा निरुद्ध हो जाती है (और) नैव-संज्ञा-नैव-असंज्ञा-आयतन वाली सूक्ष्म-सत्य-संज्ञा उस समय होती है...उसकी वह पहिले की नैव-संज्ञा-नैव-असंज्ञा वाली सूक्ष्म-सत्य-संज्ञा निरुद्ध हो जाती है (और) अभिसंज्ञा-निरोध वाली सम्प्रज्ञात-समापत्ति उस समय होती है।" इन चार आनन्त्यों के परे निर्वाण-पद है जिसे पातञ्जल योग में असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है।

किन्तु परमसत्ता की अनुभूति केवल एक निर्गुण ब्रह्म के रूप में ही नहीं होती। उसकी अनुभूति एक ऐसे स्वामी, सखा, भर्ता, प्रणयी तथा ईष्टदेव के रूप में भी होती है जिसके प्रति प्रत्येक मनुष्य के मानस में निगूढ़ भक्त अपना मन, अपनी आत्मा, अपना सम्बल, अपना हृदय, अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। भगवान की अनुभूति की इस परम्परा में किसी प्रकार की क्षुद्रता, संकीर्णता अथवा हीनता नहीं है। यह अनुभूति भी बृहद्, अपरिमेय, मधुर एवं परिपूर्ण है। भगवान गीता के वे पुरुषोत्तम हैं जिनका साक्षात्कार निराकार एवं निर्गुण के रूप में भी किया जा सकता है और जो अपने भक्त के समीप वही रूप धारण करके भी आते हैं जिस रूप में कि भक्त उनकी उपासना करता हैं। वे भक्त के समीप बारम्बार एवं अपनी समस्त सम्पूर्णता लेकर आते हैं। वे परमानन्द हैं, सनातन हैं, पूर्ण हैं। वे केवल परात्पर ही नहीं है, सर्वव्यापी भी हैं। वे एकमेव अद्वितीयम् परमेश्वर हैं जो जीव तथा जगत भी बन जाते हैं। महाप्रभु चैतन्य के शब्दों में, परमतत्त्व तो स्वयं श्रीकृष्ण हैं जो गोपियों का रूप भी धारण कर लेते हैं और जो, सब गोपियों के परे, राधा भी बन जाते

है—अपने साथ अपने ही संयोग-वियोग की रसानुभूति के लिए। वे राधा वन-कर ही यह जान पाते हैं कि वे कितने मधुर, कितने हृदयहारी तथा मन एवं आत्मा को किस प्रकार मुग्ध कर देने वाले हैं।

ईसाई तथा मुस्लिम मीमांसक आक्षेप लगाते हैं कि हिन्दुओं के पास कोई पुरुषमय परमदेव नहीं है। यह आक्षेप इस अर्थ में सत्य हैं कि हिन्दुओं का परमदेव मानवसुलभ गुण-धर्मों से सम्पन्न नहीं है, मानवसुलभ स्वभाव वाला नहीं हैं। वह एक इकाई भी नहीं है। न ही वह एक ऐसी अलग-थलग सत्ता है जिसके साथ सवका संलाप नहीं हो सकता और जो अपने एकमेव पुत्र अथवा अन्तिम पैग़म्बर कहलाने वाले लाडले को ही अपना भेद वतलाता है। हिन्दूधर्म में परमदेव की कल्पना केवल पिता अथवा न्यायाकर्ता के रूप में ही नहीं की गई। हिन्दूधर्म के परमदेव माता भी हैं, सखा भी हैं, वन्धु भी, साथ खेलने वाले भी, पति भी, पत्नी भी, प्रणयी भी। सच तो यह है कि हिन्दूधर्म में, आध्यात्मिक अद्वैत और आध्यात्मिक वहुदेववाद की नाईं, आध्यात्मिक परमदेववाद का भी सर्वापेक्षा प्राञ्जल प्रकाशन हुआ है। परमदेव परात्पर और साथ ही सर्वव्यापी हैं; वे निर्गुण और साथ ही सगुण है; वे एक भी हैं अनेक भी; वे अरूप हैं फिर भी वे एक या अनेक दिव्य रूप धारण करते हैं; वे अनाम है फिर भी वे एक अथवा अनेक नाम वाले हैं। पुरुषोत्तम के रूप में वे दिव्य लीला करते हैं। उनके दिव्य सखा और दिव्य धाम हैं। वैकुण्ठ, वृन्दावन, गोलोक, कैलाश इत्यादि केवल कल्पनाएं नहीं हैं, पररमार्थिक सत्य हैं, आध्यात्मिक सत्ता की ऊध्वतर्म अभि-व्यक्तियां हैं। इस प्रकार हिन्दूधर्म में परमदेव को सगुण वनाने की चेतना का उतना ही विस्तार है जितना कि उनको निर्गुण वनाने की चेतना का।

अनात्त[1]

वौद्धधर्म की एक और विशेषता है। वह व्यक्तिगत मानवात्मा को या तो अस्वीकार करता है अथवा उसके विषय में मौन रहता है। कुछ लोग

---

१. भगवान वुद्ध के कई-एक निर्विवाद शिक्षापद हैं जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता कि वे आत्मा के आत्यन्तिक क्षय मानने वाले मतों का प्रत्याख्यान करते थे। यह समझाते समय कि उन्होंने वच्छगोत्त परिव्राजक को इस विषय में सीधा हां या ना क्यों नहीं कहा, वे कहते है: "आनन्द! वच्छगोत्त परिव्राजक ने जव पूछा कि 'क्या आत्मा नहीं है', उस समय यदि मैं उत्तर देता कि 'आत्मा नहीं है', तो आनन्द! मैं उन श्रमणों और व्राह्मणों के मत का समर्थन करता जो उच्छेदवाद में विश्वास करते हैं।"

एक अन्य अवसर पर वे उन लोगों का प्रत्याख्यान करते हैं जो उनको "नास्तिक" और "सत्त्व का उच्छेद, विनाश एवं विभव" वतलाने वाला कहते थे। उन्होंने कहा: "जो मैं नहीं हूं, जिस धर्म को मैंने नहीं कहा, उस का लाञ्छन मुझ पर लगाया जा रहा है।"

मानते हैं कि भगवान बुद्ध ने आत्मतत्त्व को कभी अस्वीकार नहीं किया। वे तो केवल अहम्बोध अथवा मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व अथवा मानव चित्त को अस्वीकार कर रहे थे जिसके आत्मा होने का भ्रम साधारणतया उपजता है। एक बार वे वृक्ष के नीचे उपासीन थे। तब उन्होंने वृक्ष के कुछ पत्ते हाथ में लेकर आनन्द से कहा था कि जिस प्रकार वे पत्ते जो उन्होंने हाथ में लिए है, उन पत्तों से जो वृक्ष में लगे हुए हैं, बहुत थोड़े हैं, उसी प्रकार वे धर्म जिन्हें जानकर उन्होंने कहा है, उन धर्मों से जिन्हें जानकर उन्होंने नहीं कहा, बहुत थोड़े हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि "आत्मा" भगवान बुद्ध द्वारा नहीं कहे गए धर्मों में से ही एक धर्म था। इस धर्म के कहने से किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। कारण, प्रथमतः आत्मा के सत्य का बुद्धिगम्य भाषा में लेखा नहीं दिया जा सकता। द्वितीयतः आत्मा अथवा किसी अन्य, व्यक्तिगत अथवा विश्वगत, शाश्वत तत्त्व के प्रतिपादन से व्यक्ति को उस सत्य की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती। उस सत्य का साक्षात्कार तो व्यक्ति की दृढ़ साधना द्वारा ही सम्भव है। जो कुछ क्षयधर्मा है, जो कुछ भी व्यावहारिक जगत् के अन्तर्गत हैं, उसका बहिष्कार करके ही उस सत्य का साक्षात्कार हो सकता है। समस्त वितर्क-विचार, समस्त इन्द्रिय-स्पर्श, समस्त रूप-समुदाय, जिनके विषय में शाश्वत तत्त्व की भ्रान्ति होती है, सर्वथा निरुद्ध होने चाहिएं।

इसके विपरीत, किसी शाश्वत आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करना सम्भवतः हानिकारक ही होता। साधक-गण साधारणतया अपने शरीर अथवा मन को आत्मतत्त्व समझने की भूल करते हैं। कम से कम चित्त की सूक्ष्म तथा सात्त्विक वृत्तियों अथवा अवस्थाओं के विषय में तो प्रायः ही ऐसी भूल होती है। चित्त अपनी उर्ध्वतम अवस्था में भी केवल एक पुद्गल है, एक स्कन्ध है, विविध तत्त्वों का एक प्रपञ्च मात्र है और, इसलिए, वह परिवर्तनशील तथा विनाशशील है।

किन्तु भगवान के मौन रहने का कारण कुछ भी हो इस समस्या का समाधान तो करना ही होगा कि बौद्ध साहित्य में आत्मतत्त्व के प्रतिपादन का अभाव क्यों है। कारण, विभिन्न युगों में मानव-जाति के समस्त धर्म-सम्प्रदायों में आत्मतत्त्व ही केन्द्र में प्रतिष्ठित होता रहा है। उपनिषद् की भाषा में आत्मतत्त्व "अंगुष्टमात्रः पुरुषः" अर्थात् अंगूठे के आकार वाला पुरुष है, "मध्ये वामनमासीनम्" अर्थात् शरीर के मध्य में आसीन वामन है। और इसी

आत्मतत्त्व की अनुभूति उन सब साधकों को होती रही है जो किसी भी युग में दिव्य के आह्वान द्वारा आकर्षित हुए हैं।*

प्रथम अवलोकन करने पर बौद्धधर्म में आत्मतत्त्व की अस्वीकृति वेदान्त की उस व्याख्या से सहमत प्रतीत होती है जो मनुष्य में व्यक्तिगत आत्मा का अभाव मानती है। किन्तु वह व्याख्या वेदान्त की अन्य व्याख्याओं से सहमत नहीं। न ही वह व्याख्या मनुष्य की सर्वसाधारण अध्यात्म-अनुभूति के अनुकूल है।

आत्मतत्त्व की अस्वीकृति के क्रियापरक कारणों की विवेचना हम ऊपर कर चुके। और भी दो कारणों से आत्मतत्त्व को अस्वीकृत किया जा सकता है, अथवा उसके विषय में मौन का अवलम्बन लिया जा सकता है। ये दोनों कारण आध्यात्मिक हैं। एक कारण तो यह है कि गहन समाधि की अवस्था में व्यक्तित्व की समस्त चेतना, यहाँ तक कि आध्यात्मिक व्यक्तित्व की चेतना भी, लुप्त हो जाती है और साधक एक ऐसी चेतना में लीन हो जाता है जो नाम-रूप-विहीन है, असीम है, पारमार्थिक एवं अनिर्वचनीय है। अर्थात् वह एक महा-शून्य अथवा स्वयम्भू के महासागर में डूब जाता है। इस विषय में श्री अरविन्द द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य अत्यन्त उपादेय है। उनके कथनानुसार निर्वाण को कोई लोक अथवा भूमि कहकर उसका परिचय नहीं दिया जा सकता। कारण, निर्वाण की समस्त प्रगति ही संसार से तथा सांसारिक स्पृहाओं से कूटस्थ हो जाने की ओर है। अतएव निर्वाण वह चेतना अथवा अतिचेतना है जिसका न कोई लोक है, न कोई भूमि।

---

* भगवान बुद्ध के "शून्यवाद" का केवल इतना ही आशय है कि ये स्कन्ध अथवा संस्पर्श-समुदाय किसी प्रकार के शाश्वत तत्त्व नहीं है। संयुत्त-निकाय के एक संवाद से इस आशय का स्पष्टीकरण भलीभांति हो जाता है। आयुष्मान आनन्द ने भगवान बुद्ध से पूछा : "भन्ते ! क्या होने से लोक शून्य कहा जाता है ?" भगवान ने उत्तर दिया : "आनन्द ! क्योंकि आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य है, इसलिए लोक को शून्य कहा जाता है। आनन्द ! आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य क्या है ? आनन्द ! चक्षु, रूप, चक्षु-विज्ञान, चक्षु-संस्पर्श, चक्षु-वेदना आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य है। श्रोत्र, शब्द, श्रोत्र-विज्ञान, श्रोत्र-संस्पर्श, श्रोत्र-वेदना आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य है। घ्राण, गंध, घ्राण-विज्ञान, घ्राण-संस्पर्श, घ्राण-वेदना आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य है। जिह्वा, रस, जिह्वा-विज्ञान, जिह्वा-संस्पर्श, जिह्वा-वेदना आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य है। काया, स्पर्श, काया-विज्ञान, काया-संस्पर्श, काया-वेदना आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य है। मन, (मन के) धर्म, मनोविज्ञान, मनः-संस्पर्श, मनोवेदना आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य है। आनन्द ! क्योंकि आत्मा अथवा आत्मीय से शून्य है, इसलिए लोक को शून्य कहा जाता है।"

निर्वाण मनस् का पूर्ण मौन है, समस्त प्रवृत्ति, संकल्प-विकल्प, तर्क-वितर्क का क्षय है। और यह क्षय इतना आत्यन्तिक हो सकता है कि केवल मौन मनस् के लिए ही नहीं, अपितु निश्चेष्ट ज्ञानेन्द्रियों के लिए भी सारे जगत् का सत्व एवं सार लुप्त हो जाता है, तथा समस्त पदार्थ या तो ऐसे सत्त्वविहीन बन कर रह जाते हैं जैसे उनका कोई अस्तित्व ही नहीं हो अथवा एक नाम-रूप-विहीन आनन्त्य में डूबते-उतराते हैं। यह आनन्त्य ही अथवा इसके परे कोई अन्य अस्तित्व ही वह तत् है जो कि एकमेव अद्वितीयम् सत्य है। फलस्वरूप जिस चेतना का उद्‌भव होता है वह पूर्ण शान्ति, मौन तथा विमुक्ति की चेतना होती है।

श्री अरविन्द को स्वयं जब निर्वाण की अनुभूति हुई थी तब व्यक्तिगत आत्मा की समस्त भावना उनसे विस्मृत हो गई थी। उनके लिए किसी भी व्यष्टिगत अथवा समष्टिगत आत्मतत्त्व का अस्तित्व नहीं रह गया था। वे कहते हैं : "मुझको स्वयं निर्वाण तथा ब्रह्म में लय हो जाने की अनुभूति हुई थी। प्रथमतः वह अनुभूति अनायास ही आविर्भूत हुई और वह पूर्ण शान्ति से ओतप्रोत थी। मानो अन्तर की समस्त मानसिक, भावनात्मक तथा अन्य प्रवृत्तियों का क्षय हो गया हो...मुझको किसी नितान्त 'अहं' की चेतना नहीं रही, न ही किसी निराकार अथवा अन्य आत्मतत्त्व की चेतना मुझे रही। बस 'तत्' की ही चेतना मात्र रह गई। वह 'तत्' ही सम्पूर्ण सत्य था, अन्य सब कुछ असत्य, शून्य एवं मिथ्या। पूछा जा सकता है कि उस सत्य का साक्षात्कार किसने किया? पर वहां तो एक नाम-रूप-विहीन चेतना थी जो उस 'तत्' से विभिन्न नहीं थी। इतना भर ही कहा जा सकता है, यद्यपि इतना कहना भी युक्तिसंगत नहीं। कारण, उस अनुभूति के विषय में कोई मानसिक धारणा ही नहीं बनी। किन्तु इससे अधिक तो कुछ कहा ही नही जा सकता। चेतना (चेतना का यह अथवा वह पक्ष, अथवा किसी प्रकार का 'अहं' नहीं) सहसा अपने अन्तर के समस्त सत्त्व से रिक्त हो गई और उसको एक मिथ्या संसार तथा किसी अनिर्वचनीय सत्य का ही भान रह गया।"

अतएव, पारमार्थिक सत्य का साक्षात्कार करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि साधक अपने भीतर किसी आत्मा अथवा शाश्वत व्यक्तिगत तत्त्व का संधान पाए अथवा किसी समष्टिगत आत्मतत्त्व को देखे अथवा परिवर्तनशील संसार के पीछे किसी अपरिवर्तनशील तत्त्व का साक्षात्कार करे। साधना का श्रीगणेश उस ग्रन्थि के विमोचन अथवा क्षय से किया जा सकता है जिसको मनस् अथवा अहम्भाव कहते हैं। तब साधक उस पारमार्थिक सत्य की सीधी खोज कर सकता है एवं

सीधा सन्धान पा सकता है जो एक नाम-रूप-विहीन चेतना है, जिसको न आत्मा कहा जा सकता है, न अनात्मा, जो कूटस्थ और अनिर्वचनीय है, और जिसका कोई नाम अथवा धाम नहीं। इसको भगवान बुद्ध का निर्वाण कहा जा सकता है, अथवा परवर्ती बौद्धों का शून्य अथवा अभाव, अथवा गीता का "अनादिमत्परं ब्रह्म न सन्नासदुच्यते" अर्थात वह अनादि और परम ब्रह्म जिसको न सत् कहा जा सकता है, और न असत् ही।

अस्तित्व का अनित्यत्व तथा दुःखत्व

उपरोक्त विभेदों के अतिरिक्त व्याख्या एवं व्यञ्जना के अन्य विभेद भी हैं। इन विभेदों का प्रसंग सामान्यतः इहलौकिक जीवन का दुःखत्व एवं अनित्यत्व है। वेदान्त ने भी इहलोक की सम्पदा के अनित्यत्व पर जोर डाला है। किन्तु वेदान्त की व्याख्या आनन्द, शान्ति तथा पारमार्थिक अनुभूति के विषय में ही अधिक रही है। यही कारण है कि बौद्ध तथा हिन्दू साहित्य का अध्ययन करते समय अध्येता के मानसपट पर दो विभिन्न चित्र उभरते हैं।

वेदान्त ने भी पारमार्थिक अनुभूति की बुद्धिगम्य भाषा में अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन भगवान बुद्ध के अनुरूप ही किया है। किन्तु फिर भी वेदान्त ने, उस अनुभूति का आह्वान, उद्बोधन, और आकलन उपमाओं तथा दृष्टान्तों द्वारा करने से मुख नही मोड़ा। यह सत्य है कि भगवान बुद्ध दृष्टान्त देने के विषय में प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष थे। किन्तु उन्होंने अपने सारे दृष्टान्त शील तथा समाधि के सम्बन्ध में अपने शिक्षापदों को सुस्पष्ट करने के लिए ही दिए। इसके विपरीत, वेदान्त ने इन्ही दृष्टान्तों तथा अपनी उपमायुक्त भाषा का प्रयोग पारमार्थिक अनुभूति के सौन्दर्य, सौमनस्य तथा स्वाच्छन्द्य का यथासाध्य वर्णन करने में किया। यही कारण है कि बौद्धधर्म शून्यत्व तथा अनित्यत्व का चित्र प्रस्तुत करता है, जब कि वेदान्त सौमनस्य तथा स्वाच्छन्द्य की प्रतीति उपजाता है।

बौद्धधर्म में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सत्ताओं का विभाजन अथवा पृथक्करण अपेक्षाकृत आत्यन्तिक और आग्रहपूर्ण हो गया है। इन दोनों सत्ताओं के बीच परस्पर सम्पर्क अथवा आदान-प्रदान का कोई बिन्दु ही वहां नहीं बच जाता। व्यावहारिक जगत् आद्योपान्त दुःख एवं अनित्य है, जबकि जन्म-मरण के उस पार का लोक कूटस्थ एवं अनिर्वचनीय है, और दोनों लोक एक-दूसरे का पूर्ण बहिष्कार करते हैं। एक लोक में दूसरे लोक का कोई प्रतिबिम्ब अथवा कोई प्रतिध्वनि अथवा कोई प्रत्याह्वान नहीं प्राप्त होता।

वेदान्त में ये समस्त प्रसंग विभिन्न रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। वेदान्त की उस व्याख्या में भी जो कि बौद्धधर्म के समीपतम है, जगत् एवं जीव का अस्तित्व परमतत्त्व की मायाशक्ति पर अवलम्बित है। वेदान्त की उन व्याख्याओं में जो अधिक सकारात्मक हैं, ब्रह्म के संस्पर्श से ही यह जगत सर्वप्रथम पूर्ण सत्य में प्रतिष्ठित होता हैं—उस सत्य में जो कि जडवादी द्वारा स्वीकृत वस्तुसत्य से असंख्य गुणा अधिक सत्य है। वस्तुत: उस सत्य की तुलना में तो जडवादी का वस्तुसत्य सत्य ही नहीं रह जाता। यह माना कि भगवान के विना लोक "शून्य" है। किन्तु ऐसा तो कोई लोक ही नहीं जिसमें भगवान नहीं हैं। सब-कुछ का उद्भव भगवान से ही हुआ है और भगवान में ही सब-कुछ की स्थिति तथा गति है। भगवान उपर, नीचे, पीछे, आगे—समस्त पदार्थों तथा प्राणियों के हृदय में प्रतिष्ठित हैं।

मनुष्य की आत्मा अपने पारमार्थिक उद्भव का स्मरण करती है, और अपनी भावी पारमार्थिक स्थिति की और उन्मुख होती है। वह अपने दिव्य धाम के लिए अथवा, प्लेतॉन के शब्दों, में, अपनी "लीलास्थली" के लिए लालायित रहती है। वह उस लीलास्थली का अवलोकन करती है और अवलोकन की क्रिया में "सम्पन्न एवं सुखी बना दी जाती है", तथा तृप्त हो जाती है। गीता तथा कठोपनिषद् की भाषा में जगजीवन "ऊर्ध्वमूल" है अर्थात उसकी जड़ें परमतत्व में हैं। यह जगत् तथा इसकी सत्ता भगवान में प्रतिष्ठित है। "तस्मिल्लोका: श्रिता: सर्वे" अर्थात् ये समस्त लोक उस ब्रह्म में आश्रित हैं। इस संसार में मानवजीवन की प्रतिष्ठा इससे प्रशस्ततर और क्या हो सकती है? हरमेटिक* परम्परा के अनुसार जो कुछ ऊपर है वही नीचे भी हैं। व्यावहारिक सत्ता, पारमार्थिक सत्ता का ही प्रतिबिम्ब है। पूर्णमदः पूर्णमिदम्।

वेदान्त की परम्परा में केवल जीव ही भगवान की आराधना करके भगवान को प्राप्त नहीं करते, भगवान भी धरा पर अवतरित होते हैं और, जीवों का उद्धार करने तथा उनके आध्यात्मिक उत्क्रमण में सहायक बनने के लिए, जगजीवन के बन्धनों में अपने-आपको आबद्ध करते हैं। इस प्रकार परमात्मा तथा जीवात्माओं के बीच, समष्टि तथा व्यष्टि के बीच, पारमार्थिक तथा व्यावहारिक के बीच, एक प्रेमपूर्ण आदान-प्रदान होता है; एक "अपावृत द्वार" का परिचय मिलता है। भगवान एवं उनके भक्त के मध्य एक पार-

* प्राचीन ग्रीस एक की अध्यात्म-परम्परा।

स्परिकता का नाता है। वे एक-दूसरे में प्रतिष्ठित होकर वर्तमान तथा गतिमान रहते हैं। एक को दूसरे में अपना पूर्ण प्रत्याह्वान, प्रतिविम्ब, प्रतिरूप प्राप्त होता रहता है तथा अपनी प्रतिध्वनि सुनाई देती रहती हैं।

उपरोक्त विभेद से उद्भूत एक अन्य विभेद हिन्दू तथा बौद्ध साधना-पद्धति के बीच देखा जाता है। बौद्धधर्म में किसी प्रेममय भगवान की प्रतिष्ठा नहीं है। अतएव प्रत्येक साधक को अपनी मुक्ति के लिए अपने ही सम्वल तथा अपनी ही साधना पर निर्भर रहना पड़ता है। वेदान्त की साधना में भी साधक के व्यक्तिगत अध्यवसाय की उपादेयता का अभाव नहीं। किन्तु उस साधना में शीघ्र ही परमतत्त्व की पूर्ण आराधना तथा परमतत्त्व के प्रति पूर्ण समर्पण का समावेश हो जाता है :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्य: विमोक्षयिष्यामि मा शुच ।।

श्रीकृष्ण गीता में यह संदेश देते हैं कि समस्त साधनाओं को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण ले, मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा।

साधक की व्यक्तिगत साधना जव-जव अनन्य तथा अनवरत होती है तव-तब वह भगवद्-कृपा का आह्वान करती है। भगवद्-कृपा का दिव्य जलप्रवाह भक्त को परिप्लावित कर देता है, सरावोर कर देता है। साधना-पद्धति का यह विभेद भी बौद्धधर्म में नीरसता, निवृत्ति-परायणता तथा कर्कशता की प्रतीति उपजाता है। इसके विपरीत, उपनिषदों के आधार पर प्रतिपादित साधना-पद्धतियां सौमनस्य तथा सहजभाव से परिपूर्ण हैं।

किन्तु इन विभेदों को हमें वहुत वढाना नहीं चाहिए। जैसा कि हम देख चुके हैं, वेदान्त की भी एक ऐसी परम्परा है जो बौद्धधर्म की निवृत्ति-परायण परम्परा के अत्यधिक समीप है। इसी प्रकार बौद्धधर्म के तत्त्वशास्त्रों तथा साधना-पद्धतियों में ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं जो हिन्दूधर्म की अपेक्षाकृत प्रवृत्ति-परायण परम्परा के अत्यधिक समीप हैं। इन सम्प्रदायों में साधक समस्त विचार-वितर्क तथा संकल्प-विकल्प का वहिष्कार करके और जगत् से उदासीन होकर (हिन्दू इसी साधना को अष्टाङ्गयोग कहते हैं) शून्य में प्रवेश नहीं करता, प्रत्युत वह "करुणामय बुद्ध" की शरण लेता है। इन सम्प्रदायों में बौद्धधर्म नीरस एवं अनाकर्षक नहीं रह जाता, प्रत्युत रसमय एवं वैभवयुक्त हो उठता हैं। किन्तु हमने जान-बूझ कर बौद्धधर्म की इन प्रबल परम्पराओं की चर्चा नहीं की।

कारण, हमारी दृष्टि बौद्धधर्म के उन सिद्धान्तों पर ही आविष्ट है जो उस मत के प्राचीनतम साहित्य में प्राप्त होते हैं और जिनके विषय में समस्त बौद्ध सम्प्रदाय एकमत हैं। हम यह समीक्षा करना चाहते थे कि हिन्दूधर्म के साथ तुलना करने पर उन सिद्धान्तों का तादात्म्य क्या है।

बौद्धधर्म-विहित "शून्य" के स्वरूप के विषय में भ्रान्ति का पोषण नहीं करना चाहिए। वस्तुत: यह "शून्य" बौद्धधर्म की विशेषता नही है। यह तो निराकरण की वह प्रक्रिया है जिसका विधान समस्त गुह्य साधनाएं और योग-परम्पराएं देती हैं। ऊर्ध्वस्थ दिव्यलोकों में प्रवेश पाने के लिए "शून्य" के द्वार को पार करके ही जाना पड़ता है। इसलिए अर्हत् उसको कहा गया है जिसकी समस्त प्रवृत्तियां समस्त तृष्णा, तथा समस्त इंद्रिय-सस्पर्श निरुद्ध हो गए हैं।

इसके अतिरिक्त, निर्वाण कोई नीरस अथवा जीवन से पराङ्मुख प्रक्रिया नहीं है। गुह्य साधना को न समझ पाने वाले लोग ही निर्वाण के सम्बन्ध में ऐसा सोचते हैं। ज्यों-ज्यों साधक का मानसिक तर्क-वितर्क, संकल्प, तृष्णा तथा रागोन्मेष क्षय होता जाता है त्यों-त्यों वह मुक्ततर तथा प्रसन्नतर होता जाता है। यह जीवन, जो साधारणतया अन्धकारमय, उद्विग्न, क्षुद्र, दु:खपूर्ण, वेदनायुक्त तथा श्रान्त-सा रहता है, सर्वप्रथम सौमनस्य, स्वाच्छन्द्य, प्रकाश तथा शक्ति में अपनी वास्तव प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

भगवान बुद्ध के शिक्षापदों में जिस दु:ख का इतना उल्लेख है तथा जिसको लेकर लोग बौद्धधर्म से विमुख हो जाते हैं, उसका सच्चा स्वरूप भी ठीक से नहीं समझा गया है। उस दु:ख की स्थिति मानसिक नहीं, पारमार्थिक है। द्वन्द्व तथा अनित्यत्व के स्तर पर तो दु:ख की ही सत्ता है। फिर वह दु:ख चाहे मानसिक स्तर पर व्यक्त हुआ हो अथवा नहीं हुआ हो, अथवा मानसिक स्तर पर भले ही इस लोक में सुखमय इन्द्रियस्पर्श उपलब्ध होते रहें। जो मानस इन्द्रिय-ग्राह्य और सुख-दु:ख-मय स्पर्शों में आबद्ध हैं, उसके लिए वस्तुत: यह दु:साध्य है कि वह दु:ख की तात्त्विक तथा सार्वलौकिक सत्ता को समझे। भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा है: "दूर से चलाए हुए तीर को किसी सूक्ष्म छिद्र में से पार करना और एक बार भी निशाना नहीं चूकना कठिन है। किसी बाल की नोंक को सौ भागों में बांट कर एक भाग को उसी प्रकार बंटे हुए बाल की नोंक से बींधना और भी कठिन है। ओर इस सत्य का साक्षात्कार करना कि यह सब कुछ दु:ख है और भी अधिक कठिन है।"

दु:ख तथा आनन्द के विषय में हिन्दूधर्म तथा बौद्धधर्म की धारणाएं परस्पर पूरक ही हैं, परस्पर विरोधी नही हैं। नीचे की ओर से देखने पर, द्वन्द्व तथा अनेकत्व के दृष्टिकोण से, भगवान से विलग होकर, यह जगत् बौद्धधर्म की धारणा के अनुरूप ही दु:ख, दौर्मनस्य, अनित्यत्व तथा वेदना का आगार है। किन्तु ऊपर की ओर से देखने पर, उस एक अथवा तत् के सर्वतोमुखी दृष्टि-कोण से, यह सब-कुछ आनन्द में सराबोर है, यह सब-कुछ मां भगवती की मुग्ध-कारी लीला है अथवा, हिन्दूधर्म की परम्परागत भाषा में, श्रीकृष्ण अथवा शिव की प्रेममयी एवं आनन्दमयी लीला है। तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है: "आनन्दो ब्रह्मे ति व्यजनात्। आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिविशन्तीति।" अर्थात आनन्द ही ब्रह्म है, यह जान लिया। आनन्द से ही ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से जीते हैं (तथा) इस लोक से प्रयाण करते हुए आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं।

तो फिर हिन्दूधर्म तथा बौद्ध के बीच विरोध कहां रह जाता है ?

उपसंहार

उपरोक्त विवेचना में हमने यह देख लिया कि भगवान बुद्ध, उनकी अध्यात्म-अनुभूति तथा उनके शिक्षापद हिन्दू-परम्परा के ही अन्तर्गत थे। वे उपनिषद् की परम्परा के उत्तराधिकारी थे। उनको किसी अन्य अर्थ में समझा ही नहीं जा सकता। उनको उस परम्परा से पृथक करना जिसका उन्होंने अनुमोदन, पोषण एवं प्रतिनिधित्व किया था, और उनको अलग से समझने की चेष्टा करना, केवल भ्रान्ति का ही प्रसार करता रहा है और इस कारण उनके शिक्षापदों की दुर्गति ही हुई है। उन्होंने स्वयं किसी अभिनव आविष्कार का दावा नहीं किया। उन्होंने तो यही दावा किया था कि उन्होंने एक "पुरातन पथ को देख लिया" और वे एक "पुरातन पथ" पर चल रहे हैं। जो लोग भगवान बुद्ध के प्रति श्रद्धासम्पन्न एवं भक्तियुक्त हैं उनके लिए यही उचित है कि वे उस परम्परा के प्रति भी श्रद्धासम्पन्न तथा भक्तियुक्त हों जिसने भगवान बुद्ध को जन्म दिया, उनका पालन-पोषण किया और उनके पिता, गुरु तथा प्रेरक का पद ग्रहण किया। एक श्रद्धासम्पन्न बौद्ध के लिए यह अपरिहार्य है कि वह एक श्रद्धासम्पन्त हिन्दू भी बने।

किन्तु अपने-आप को भगवान बुद्ध के उपासक बतलाने वाले कुछ अद्यतन बौद्ध उस परम्परा को लाञ्छित करने की होड़ लगा बैठे हैं और संयम की सीमा

लांघते रहते हैं। यह सारा अध्यवसाय उनके अज्ञान का ही द्योतक है।

भगवान बुद्ध के भक्त किसी भी बौद्ध को भगवान तथा, तदुपरान्त, सम्राट अशोक की तरह भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व करना चाहिए।* उसे यह याद रखना चाहिए कि भारतवर्ष केवल भगवान बुद्ध की ही भूमि नहीं अपितु राम, कृष्ण, याज्ञवल्क्य, व्यास, कबीर, नानक, चैतन्य, मीरा तथा आलवारों की भूमि भी है। हिन्दूधर्म किसी एक किताब में बन्द अथवा केवल एक पैग़म्बर द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय नहीं है। वह तो मनुष्य की उस अनामा अध्यात्म-परम्परा और ज्ञान-सम्पदा का आगार है जिसे अनेकानेक ऋषियों और सन्तो ने संजोया है। हिन्दू धर्म तर्क द्वारा सजायी गई किसी मीमांसा की महारनी नहीं है। इसके विपरीत वह अनाम को नामांकित करने की और अकथनीय को वाणी में व्यक्त करने की साधना है। वह उस परात्पर की प्रतीति को भाषा प्रदान करने का प्रयत्न है जिसके साथ अनेक प्रकार के सम्पर्क स्थापित करने के लिए साधकों ने अपने-अपने आधार और अधिकार के अनुरूप प्रत्येक युग में स्पृहा की है।

हिन्दूधर्म एक विशाल जलाशय के समान है जिसमें से अनेक नदियां निकलती हैं और जिसमें वे नदियां अनेक अपरिचित और उर्वर अंचलों में प्रवाहित होने के बाद पुन: समाहित हो जाती हैं। यह धर्म एक ऐसा सृजनशील तन्त्र है जिसने अनेक सुन्दर और सजीव आकृतियों को प्रकट किया है। स्वयं अनैतिहासिक अर्थात् सनातन होते हुए भी, इस धर्म ने अनेक ऐसे सम्प्रदायों और आम्नायों को जन्म दिया है जिनके इतिहासों में अनेक उतर-चढाव मिलते हैं। यह धर्म हृदयगुहा में प्रतिष्ठित केवल एक ही प्रभु की आराधना करता है। किन्तु समय-समय पर इसने अनेक ऐसे शास्ता और सिद्धों का पोषण किया है जिनकी शक्ति और दृष्टि अनुपम थी और जो ऊर्ध्वस्थ तथा अन्तस्थ देवताओं के अवतार कहलाए।

* बौद्धधर्म अपने विश्व-प्रसार में शायद हिन्दूधर्म के पूर्ववर्ती प्रचार का ही अनुगमन कर रहा था। बौद्धधर्म वहां-वहां ही पहुंचा जहां हिन्दूधर्म पहले से ही प्रतापित तथा प्रतिष्ठित हो चुका था। उन देशों में बौद्धधर्म ने अपने लिए वहां की जनता के हृदय स्थायी तौर पर जीत लिए और वहां का कुछ भी नष्ट किए बिना वह वहां जम गया। नए देशों की मनीषा द्वारा पुष्ट होकर, बौद्धधर्म नए-नए रूपों में पल्लवित हुआ और सब स्थानों पर पूर्णतया स्वदेशीय बन गया। परदेश का कोई दूरवर्ती और अपने-आपको उसका प्रभु मानने वाला प्रतिष्ठान उसका प्रवर्तन नहीं कर रहा था। इसके विपरीत, बौद्धधर्म ने स्थानीय धरती से ही रस संजोया। इसीलिए बौद्धधर्म किसी ऐसे साम्राज्यवाद का वाहन नहीं बना जो दूर से उन देशों का शोषण करे। उसका केन्द्र तथा तन्त्र सदा प्रत्येक देश के भीतर ही रहा। इसीलिए वह अपने सभी अनुयायियों की वाणी में बोल पाया।

बौद्धधर्म, जैनधर्म, ब्रह्मवाद, शाक्तमत, वैष्णवमत, सिक्खपन्थ तथा अद्वैत एक ही जननी की कुलीन सन्तान हैं। इनमें से कोई भी मार्ग, जब तक वह अपनी सर्वसाधारण परम्परा और अपने सर्वसाधारण उद्गम को नहीं भुलाता, अपने अनुयायी को पूर्ण तृप्ति प्रदान करता है। किन्तु यदि किसी मार्ग को संकीर्ण सम्प्रदाय बना कर, समष्टि का प्रत्याख्यान किया जाता है तो वह एकांगी और विकृत हो जाता है। हिन्दूधर्म एक ऐसी वीणा है जिसमें से अनेक मधुर स्वर निकलते है। स्वरग्राम की समष्टि में प्रत्येक स्वर अपने-अपने स्थान पर सार्थक है। वेद कहता है—एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। इसी प्रकार धर्म भी एक ही है, और शाश्वत दर्शन भी एक ही है। वह है सनातन धर्म जो हिन्दूधर्म का पुराना नाम है। किन्तु सनातन धर्म की अभिव्यक्तियां अनेक हैं। विविध सम्प्रदाय एक ही सनातत धर्म के विविध पक्ष हैं, अगम्य की ओर गमन के विविध मार्ग। वे सब के सब स्तुत्य हैं और सब अपनी-अपनी श्रद्धा के सुमन एक ही वेदी पर चढाते हैं।

हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म परस्पर सहोदर हैं। उन दोनों को अपने ऐकात्म्य की विस्मृत चेतना को फिर से जगाना चाहिए। उन दोनों को दिव्य तथा परम के प्रति अपनी श्रद्धा को पुनरेण प्रतिष्ठित करना चाहिए। वे दोनों परस्पर सहयोग करके एक जीते-जागते अध्यात्म की अदम्य शक्ति बन सकते हैं। उन दोनों को एक-साथ आगे बढकर सत्रंस्त संसार को अपनी अमृत वाणी सुनानी चाहिए। उस वाणी के अभाव में निकृष्ट मतवाद तथा जीवनदर्शन अपना-अड्डा जमाए बैठे हैं और मानवजाति को घोर अकल्याण की ओर ढकेल रहे हैं। इन मतवादों ने योरप को अपना पहिला शिकार बनाया। अब ये एशिया की ओर बढ़ रहे हैं। चीन को इन के करालपाश ने दबोच लिया है। किन्तु चीन की सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक जड़े गहरी हैं, चीनी जनता ने बहुत अनाचार सहा है और वह समय बदलने की बाट जोहना जानती है। अतएव यह निस्सन्देह है कि चीन अपने नए शासकों की बर्बरता से बच कर निकल जाएगा। अधुना चल रहे उद्वेग और विध्वंस के शान्त हो जाने पर चीन की जनता की सौम्य तथा उदात्त गुणसम्पदा फिर विजय प्राप्त करेगी। वस्तुतः चीन द्वारा आत्मोद्धार की साधना के संकेत मिलने लगे हैं।

भारत की जनता भी इन निकृष्ट मतवादों के मोहजाल से नहीं बच पा रही। नए भारत में उस के आध्यात्मिक उत्तराधिकार को प्रतिगामी, भाररूप और अकल्याणकारी कहा जा रहा है। देश के राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक

जीवन की बागडोर जिन लोगों के हाथों में आई है वे भारत की पुरातन निष्ठाओं को न तो समझते है, न उन निष्ठाओं के प्रति सहृदय अथवा सहन-शील हैं। किन्तु यह संशय का विषय नहीं कि वे लोग असफल रहेंगे और अदूर भविष्य में भारत फिर अपने स्वधर्म पर आरूढ होगा।

पाश्चात्य साम्राज्यवाद ने धरा के अनेक अंचलों को विध्वस्त किया है। केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, संस्कृति के नाते भी। उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के देशों में वहां के स्वदेशीय धर्मों का लोप हो गया है। अफ्रीका महाद्वीप के स्वदेशीय धर्म भी इस्लाम तथा ईसाइयत द्वारा सुनियोजित रूप से आक्रान्त हैं। आर्थिक साम्राज्यवाद पीछे हटता जा रहा है। किन्तु धार्मिक तथा आध्यात्मिक घर्षण अबाध, अभूतपूर्व और उद्दाम आवेग के साथ आगे बढ़ रहा है। पुराने साम्राज्यवाद की तुलना में यह अनवरत चलने वाला घर्षण अधिक विध्वंसकारी है।

आज जिन मतवादों का घटाटोप है उनके अनेक नाम हैं, अनेक रूप हैं। उन में से कई-एक लौकिक कहलाते हैं, कई-एक धर्म का छद्मवेश धारण किए हुए हैं। किन्तु उन की गुण-सम्पदा एक-समान है—वे सब के सब मतान्ध, संकीर्ण, स्वेच्छाचारी, दम्भपूर्ण तथा महत्त्वोन्मादी हैं। वे कहते है कि सत्य पर उन का एकाधिकार है और उस सत्य को वे दूसरों पर बलात् थोपना चाहते हैं। उन में अन्तर्मुखी भावना, उदात्त उदारता और बृहद् मानवीयता का अभाव है। उन सबका आधार है मानव की एक अधकचरी मीमांसा तथा परमाराध्य के विषय में एक विकृत दृष्टि। अपने-आप को धर्म कहने वाले मतवादों की चर्चा हम इस समय नहीं करेंगे। उदाहरण के रूप में हम दो प्रमुख मतवादों की विवेचना करेंगे—कम्यूनिज्म तथा उदारवादी गणतन्त्र। ऊपर से देखने पर इन दोनों के बीच द्वन्द्व दिखलाई देता है। किन्तु वस्तुत: इन के बीच अनेक साम्य हैं। ये दोनों एक दूसरे के पूरक मतवाद हैं। इन दोनों के प्रकार और प्रवाह एक ही मनीषा का पोषण करते हैं। सोवियत रूस का कम्यूनिज्म नितान्त नास्तिक माना जाता है। दूसरी ओर उदारवादी गणतन्त्र के जो प्रकार हमें विभिन्न देशों में दिखलाई देते हैं वे नितान्त भोगपरक और व्यक्तिपरक हैं। गणतन्त्र में सत्य तथा नीतिमत की समीक्षा व्यावहारिक, लौकिक तथा सापेक्ष पद्धति से की जाती है। उस समीक्षा में शिवम् की भावना का, परमार्थ-चिन्तन का, और सृष्टि में सामञ्जस्य देखने का द्रुतगति से विलोप होता जा रहा है। निस्सारता और निरर्थकता का बोध एक उपासना-पद्धति

बनता जा रहा है। सत्य केवल उसे समझा जाता है जो सुविधाजनक हो, अथवा अनोखा और मनोरञ्जक हो। गणतन्त्र की सारी संस्कृति में सनसनी की स्पृहा व्याप्त है, छिछोरा विलास ही मनोरञ्जन का माध्यम बन गया है। प्रत्येक प्रसंग में तत्परायणता को तुच्छ समझा जाता है। इस प्रकार गणतन्त्र का जन-जीवन खोखला होता जा रहा है। अतएव गणतन्त्र का उदार जडवाद रूस के अधिक दृढ़व्रती और आक्रामक जडवाद के सामने नहीं ठहर पाएगा। रूस का जडवाद अधिक संयमी और अनुशासन-परायण है।

दूसरी ओर यह भी कहना पड़ेगा कि उदारवादी गणतान्त्रिक देश राजनीति की दौड़ में भले ही मात खा जाएं, उनकी सांस्कृतिक तथा आर्थिक प्रणालियां अन्ततः जीत जाएंगी। भोगवाद तथा विलासवाद में बड़ा सम्मोहन है और उनसे पार पाना कठिन है। उनकी मार सूक्षम और कूट होती है। वे जल की तरह भीतर पैठ जाते हैं, व्याप्त होते रहते हैं, संयम की जड़े गला डालते हैं। वे अपने शिकार के सहयोग से ही शिकार को भीतर से खोखला करते रहते हैं। आंखे तरेरने वाला तानाशाह, मुस्कराते रहने वाले पूंजीशाह के सामने नहीं ठहर पाता। दण्ड जहां विफल हो जाता है, वहां प्रलोभन सफल हो जाता है। सौख्य से भरे भविष्य का सपना आतंक से भरे भविष्य के दुःस्वप्न पर हावी होता दीखता है।

यह समस्त विवेचना यह मान कर की गई है कि विद्यमान उद्योगवादी संस्कृति स्थायी रहेगी। किन्तु इस संस्कृति के क्षय तथा दिवालिएपन के संकेत मिलने लगे हैं। मनीषा की दृष्टि से देखा जाए तो यह संस्कृति अभी भी थोथी दीख पड़ती है। मनुष्य की गहन अभींप्साओं की पूर्ति वह नहीं कर पा रही। नवयुवकवर्ग में विवशता का बोध बढ़ रहा है, विद्रोह जाग उठा है। कल्याण के विषय में अज्ञ होने के कारण वह वर्ग अकल्याणकारी दिशाओं की ओर अग्रसर है।

निष्ठाओं के प्रसंग में विभ्रम तथा विडम्बना की इस स्थिति में, सर्वसाधारण विफलता तथा विस्मृति की इस वेला में, क्या कोई मानवजाति को फिर से जगा सकता है, उसे अपनी अध्यात्म-परम्परा का स्मरण करा सकता है, भगवत्परायण और आत्मान्वेषी जीवन की ओर उन्मुख कर सकता? इस पुनर्जागरण में, इस पुनरुत्थान में भारतवर्ष की क्या भूमिका रहेगी—उस भारतवर्ष की जो अत्यन्त प्राचीन काल से अध्यात्म-यज्ञ का पुरोधा रहा है?

104017
25-1-2002

हमारे हिन्दी प्रकाशन

१. आदि श्री गुरुग्रन्थ साहिब की महिमा
डा० के. पी. अग्रवाल — रु० ६.००

२. हिन्दू समाज : संकटों के घेरे में
सीताराम गोयल — रु० ४.००

३. सैक्युलरिज्म: देशद्रोह का दूसरा नाम
सीताराम गोयल — रु० ४.००

४. नियोगी समिति की रिपोर्ट — रु० ४.००

[illegible] और इस्लाम

रु० ३.००

रु० २.००

र

रु० २.००

T